शब्दार्थ—**राखि**=बिठाकर। **स्रवत**=टपकाते, या टपकते हैं। **पयद**=स्तन। **रंक**=कंगाल, दरिद्र। **धनद**=कुबेर।

अर्थ—रघुकुल-तिलक श्रीरामचन्द्रजीने दोनों हाथ जोड़कर प्रसन्नतापूर्वक माताके चरणोंमें सिर नवाया, अर्थात् प्रणाम किया॥ १॥ माताने आशीर्वाद दिया, उनको हृदयसे लगा लिया और भूषण-वस्त्र (उनके ऊपरसे) निछावर किये॥ २॥ माता बारम्बार श्रीरामजीका मुख चूम रही हैं। उनके नेत्रोंमें प्रेम-जल भर आया और शरीर पुलकायमान हो गया, अर्थात् प्रेमके मारे रोएँ खड़े हो गये॥ ३॥ रामजीको गोदमें बिठाकर फिर हृदयसे लगा लिया। सुन्दर स्तनोंसे प्रेमके मारे दूध टपक रहा है॥ ४॥ वह प्रेम और अतिशय आनन्द कुछ कहा नहीं जाता। ऐसा जान पड़ता है मानो दरिद्रने कुबेरकी पदवी पायी हो॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा·····'* इति। (क) सभी रघुवंशी माता-पिताके भक्त होते हैं और ये तो *'रघुकुल तिलक'* अर्थात् सबमें श्रेष्ठ हैं; अतएव ये अधिक भक्त हैं। हाथ जोड़कर प्रणाम करनेसे रामजी स्वयं प्रसन्न होते हैं, यथा—*'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जनमको फल पाइहै॥'* (वि० १३५) अतएव उन्होंने स्वयं भी हाथ जोड़कर मस्तक नवाया। [सोलहों शृङ्गारमेंसे तिलक भी एक है। अत: **रघुकुलतिलक**=रघुकुलके भूषणकर्ता (पण्डितजी)। पुन: श्रीरामजीके निर्वासनकी बात अभीतक माता कौसल्याने नहीं जाना है। वे तो समझती हैं कि आज श्रीरामजीका तिलक किया जायगा। यथा—*'कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥'* (चौ० ७) अत: *'रघुकुलतिलक'* कहा। *'गयेउ जहाँ दिनकरकुल टीका।'* (३९।५) से मिलान कीजिये। (प० प० प्र०) (ख) *'मुदित'* से जनाया कि उनके चित्तमें पृथ्वीका राज्य छोड़ने और वन जानेके लिये तैयार होनेमें किंचित् भी विकार न हुआ। यथा—'**न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम्। सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥**' (वाल्मी० २। १९। ३३) और माता आदि गुरुजनोंको प्रणाम करते समय हर्ष होना ही चाहिये इस धर्मका भी पालन हुआ। *'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ'* जो ऊपर कहा वही यहाँ *'मुदित'* से जनाया।]

टिप्पणी—२ *'दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे।·····'* इति। हृदयमें लगाया मानो छाती शीतल की। कौसल्याजीने जब राज्याभिषेककी खबर सुनी थी तब भी निछावरें की थीं, यथा—*'प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये॥'* (८। १) वैसे ही अब उनके आनेपर करती हैं। आशीर्वाद, हृदयसे लगाना, निछावर, मुखचुम्बन ये सब खड़े-ही-खड़े हुआ; अत: आगे *'गोद राखि'* पद देते हैं। बैठकर गोदमें बिठा लिया और फिर मारे प्रेमके हृदयसे लगाया।

नोट—☞ देखिये माताएँ कैसा आशीर्वाद दिया करती थीं यह वाल्मीकीयसे पता चलता है। माताने कहा—'**वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्। प्राप्नुह्यायुश्च कीर्त्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले॥**' अर्थात् धर्मात्माओं, वृद्धों एवं महात्मा राजर्षियोंके समान तुम आयु पाओ, कीर्ति पाओ और कुलोचित धर्मका पालन करो। (सर्ग० २० श्लो० २३) ऐसे ही आशीर्वादोंसे तो पहले ऐसे-ऐसे पुत्र होते थे!!

टिप्पणी—३ *'स्रवत प्रेम रस पयद सुहाए'* इति। बालक जबतक छोटा रहता है तबतक स्तनोंमें दूध बहुत रहता है, जब वह बड़ा हो जाता है तब दूध नहीं रहता, सूख जाता है। पर बच्चेमें अत्यन्त प्रेम होनेसे दूध चूने लगता है, बालकके समीप आते ही स्तनमें दूध आ जाता है। जब श्रीरामजीको माताने गोदमें बिठाकर हृदयसे लगाया तब अत्यन्त प्रेमके कारण उनके स्तनोंसे दूध टपकने लगा। दूध टपकने लगा इसीसे *'पयद'* (अर्थात् दूध देनेवाला) शब्द दिया। दूधसे ही स्तनोंकी शोभा है, अत: *'सुहाए'* विशेषण दिया।

प० प० प्र०—*'प्रेम रस'* शब्दसे जनाया कि माताके स्तनोंसे जो दूध निकल रहा है वह दूध नहीं किन्तु 'प्रेमरस' ही है। इस समय २७ वर्षकी आयु पुत्रकी हो चुकी है, इतना दीर्घकाल व्यतीत होनेपर स्तनोंमें दूधकी उत्पत्ति असम्भव-सी है, अलौकिक बात है। इससे जनाया कि कौसल्याजीका प्रेम अलौकिक और अनुपम है तथा उनके हृदयमें रामप्रेमकी अलौकिक असाधारण वृद्धि हुई है। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है पर जब भरतजी उनसे मिलते हैं तब भी *'थन पय स्रवहिं नयन जल छाए।'* जिन भरतजीके लिये ही *'राम सरिस सुत'* को वनवास हुआ उनके मिलनेपर वही प्रेमरस उमड़ना, यह तो एकमेवाद्वितीय

उदाहरण है जो मानसहीमें मिलता है। (प्रायः ३५ वर्ष हुए जब मैंने एक बुढ़िया माताको देखा कि जब उसका नाती उसकी गोदमें आता तो उसके स्तनोंसे दूध निकलने लगता था। (मा० सं०) गोदमें बिठाना अ०रा० में भी है—**'रामं दृष्ट्वा विशालाक्षमालिङ्ग्याङ्के न्यवेशयत्।'** (२। ४। २)

टिप्पणी—४ ***'प्रेम प्रमोदु न कछु कहि जाई।'''*** इति। प्रेम-प्रमोदकी दशा दिखायी कि नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया, स्तनोंसे दूध निकलने लगा। पर प्रेम-प्रमोदका किञ्चित् वर्णन नहीं हो सकता। अतएव उत्प्रेक्षाद्वारा उसको कहते हैं कि जैसे कुबेरकी पदवी धन-प्राप्तिकी अवधि है, वैसे ही श्रीरामजीकी प्राप्ति सब प्राप्तिकी अवधि है। यथा—***'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥'*** (१०७। ७) प्रेम प्रमोद=प्रेम और आनन्द=प्रेमसे उत्पन्न हुआ आनन्द। [आनन्द-अंशमें यह दृष्टान्त दिया गया, ऐसा आनन्द है जैसे कोई कंगाल कुबेर हो जाय तो उसको जैसा आनन्द हो, पुनः, ***'रंक धनद'***, का भाव कि अभीतक वह आप ही द्रव्यहीनतासे तंग (कष्टमें) रहता था और अब स्वयं धनी हो गया और दूसरोंको धन देगा, अतएव 'धनद' पद दिया। (खर्रा)]

सादर सुंदर बदन निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥ ६॥
कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥ ७॥
सुकृत सील सुख सींव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥ ८॥

अर्थ—आदरपूर्वक सुन्दर मुख देखकर माता मीठे कोमल वचन बोली॥ ६॥ हे तात! माता बलिहारी जाती है! कहो, वह लग्न कब है जो आनन्द और मङ्गलकी करनेवाली है?॥ ७॥ पुण्यात्मा पुरुषोंके (वा, पुण्य, शील और) सुखकी सुन्दर सीमा है और जन्म-लाभ अर्थात् जन्म लेनेकी परिपूर्ण सीमा है॥ ८॥*

नोट—१ बारम्बार मुख चूमना, मुख देखना, यह वात्सल्य रसका स्वरूप है। मुख-चुम्बनमें स्नेहकी प्रधानता कही, यथा—***'बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥'***, अर्थात् मारे स्नेहके बारम्बार मुँह चूमती हैं। और मुख देखनेमें शोभाकी प्रधानता कही—***'सादर सुंदर बदन निहारी'*** अर्थात् वदन सुन्दर है, अतएव उसकी सुन्दरता बारम्बार देखती हैं। माताके मन, तन और वचन तीनोंमें स्नेह दिखाया। श्रीरामजीको देखकर मनमें स्नेह हुआ, वही फिर तनमें देख पड़ा, यथा—***'नयन नेह जलु पुलकित गाता'***, और अब ***'बोली मधुर बचन महतारी'*** अर्थात् वह स्नेह वचनोंमें देख पड़ा। प्रेमहीसे मधुर वचन बोली। जैसे श्रीरामजीकी सुन्दर मूर्ति माताको सुखदायी हुई वैसे ही माताके मधुर वचन श्रीरामजीको। (पु० रा० कु०)

टिप्पणी—१ ***'कहहु तात जननी बलिहारी' 'कबहिं लगन·····'*** इति। १—आगे दोहेमें कहती हैं कि सभी स्त्री-पुरुष इस राज्याभिषेक-मुहूर्तको स्वातिबूँदकी तरह चाहते हैं। अपनी चाह उन सबसे अधिक दिखाती हैं, इसीसे लग्न बतानेके लिये बलिहारी जा रही हैं। राज्याभिषेकमें लग्न मुख्य है इसलिये लग्नको पूछती हैं और कुर्बान होती हैं। बलिहारी देहलीदीपक है अर्थात् माता आपकी बलिहारी है तथा मुदमङ्गलकारी लग्नकी बलिहारी है। बलिहारी जाऊँ, बलि जाऊँ, बलैया लूँ, कुर्बान हो जाऊँ इत्यादि मुहावरे हैं। भाव यह है कि मैं इतनी मोहित या प्रसन्न हूँ कि अपनेको निछावर करता हूँ। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा आदिक करना अपनेको उत्सर्ग कर देना, बलिहारी जाना है। और, सुन्दरता-शोभा-शील-स्वभाव आदि देखकर प्रायः लोग कह उठते हैं कि बलिहारी है!

टिप्पणी—२ ***'सुकृत सील···'***—सुकृतसे सुख मिलता है, सुकृतसे यह लग्न प्राप्त हुई और इस लग्नसे सुख मिलेगा। सुखसे भीतरका सुख और लाभसे धन, पुत्र, राज्य आदि बाहरका सुख सूचित किया।

टिप्पणी—३ (क) प्रथम कहा कि ***'कबहिं लगन मुद मंगलकारी'*** और फिर ***'सुकृत सील सुख सींव सुहाई···'*** कहकर मुदमङ्गलकारीका अर्थ स्पष्ट करते हैं। सुकृती पुरुषोंके सुखकी सीमा है। यह मुदका अर्थ

* वीरकविजी अर्थ करते हैं कि—'मेरे पुण्योंकी पराकाष्ठा सुन्दर मुखोंकी सीमा, जिससे जन्मके लाभकी अन्तिम सीमासे अघाऊँगी'। 'जन्मलाभ'=जन्म लेनेका फल, जन्म-साफल्य।

हुआ और *'जन्म लाभकी अवधि'* है यह मङ्गलका अर्थ है क्योंकि लाभ होना मङ्गल है। (ख) *'सुहाई'*=सुन्दर। पुनः *'सुहाई'*=जो मुझे सुहाती भाती या अच्छी लगती है, यथा—*'प्रेम मगन मोहि कछु न सुहाई'*, *'मोहि न बहुत प्रपंच सुहाहीं'* 'सुहाई' का भाव कि इसके आगे मुझे अन्य सुख नहीं सुहाते, इसीसे आगे स्वातिबुंदकी उपमा देते हैं; क्योंकि चातक-चातकी स्वातिबुंद छोड़ अन्य-जल नहीं चाहते।

दो०—जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति॥५२॥

अर्थ—जिस लग्नकी सब स्त्री-पुरुष अति आर्त होकर इस प्रकार चाह कर रहे हैं जिस प्रकार प्यासे चातक-चातकी शरद्-ऋतुमें स्वाती नक्षत्रकी वृष्टिकी चाह करते हैं॥५२॥

टिप्पणी—*'बृष्टि सरद रितु स्वाति'* इति। १—शरद्-ऋतुमें हस्त, आधा चित्रा और तीन चरण विशाखा इतने नक्षत्रोंका पानी चातक नहीं पीता, और न किसी ऋतुके स्वातिजलको पीता है। वह केवल शरद्के स्वातीका जल पीता है। अर्थात् वह न तो केवल शरद्का ही जल पिये और न केवल स्वातीका; जब शरद् और स्वाती दोनों हों तभी वह पानी पीता है; इसीसे यहाँ *'सरद रितु स्वाति'* कहा*। २—वृष्टि वर्षाकी झड़ीको कहते हैं, कुछ बूँदोंकी वर्षाको ही वृष्टि न कहेंगे। रामराज्यका होना भारी है, अतएव उसको स्वातीकी वृष्टि अर्थात् झड़ीके समान कहा।

प० प० प्र०—*'जेहि चाहत नर नारि'''* इस दोहेमें भाव यह है कि जब सब स्त्री-पुरुष रामराज्याभिषेक-रूपी स्वातिवर्षाके लिये चातक-चातकीकी भाँति अति आर्त हैं तब श्रीराममाता उस स्वातिविन्दु-जलके पीनेके लिये कितनी आतुर होंगी, यह कोई कैसे कह सकता है? ☞ कौसल्याजीके रामप्रेम और भावी सुखाशाका यह परमोदात्त, परमोच्च अनुपम शब्दचित्र खड़ा करके कवि यह बताते हैं कि *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू'* ये शब्द सुनकर माताके हृदयकी क्या दशा होगी यह चित्रित करना कविकल्पनाको भी असम्भव है। कारण कि जितना प्रेम अधिक होता है उतना ही फिर दुःख भी अधिक होता है, फिर भी माता जीती रह गयी, यह केवल ज्ञानावलम्बनसे ही हुआ।

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥१॥
पितु समीप तब जायेहु भैआ। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ॥२॥

अर्थ—हे तात! मैं बलिहारी जाती हूँ। तुम जल्दी नहाओ और जो मनमें अच्छा लगे सो कुछ मीठा पदार्थ खाओ॥१॥ हे भैया! तब पिताजीके पास जाना। बड़ी विलम्ब हुई, माता बलिहारी जाती है॥२॥

टिप्पणी—१ सूर्योदय होनेपर सुमन्त्रजी राजाके पास गये, वहाँ उनसे और कैकेयीसे कुछ बातचीत हुई, तब वे श्रीरामजीके पास आये और समाचार कह राजाके पास उनको ले गये। श्रीरामजीसे कैकेयीसे बात-चीत हुई, फिर राजासे कुछ बातें हुईं। तत्पश्चात् रामचन्द्रजी यहाँ अपनी माताके पास आये। इतनेमें लगभग एक पहर दिन बीत गया है। माता सोचती हैं कि पहरभर दिन चढ़ आया, तिलकमें भी पहरभर बीत जायगा, दोपहर बीत जानेपर कहीं इनको भोजन मिलेगा। बड़ी देर हो जायगी। दूसरे कल रात्रिमें व्रत कराया

* १—पुरुषोत्तम रामकु०—सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि 'अभी तो बीचमें निशाचर-युद्धरूपी वर्षा तो बाकी ही है। जब वर्षा हो जाय तब शरद् ऋतुरूपी रामराज्य आवे, जैसा मानस-प्रकरण बालकाण्डमें मानसका रूपक कहा गया है। यथा-'बरषा घोर निशाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥ राम राज सुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई॥' जब राक्षस मरें तब रामराज्य हो।

पंडितजी—चातक-चातकी और शरद्ऋतुके स्वातिबुन्दकी उपमा देकर सूचित किया कि पुरवासी रामराज्यके अनन्य भक्त हैं, चाहे भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नसे ही राज्य चले पर इनको दूसरेके राज्यसे काम नहीं। जब मेघ देवें तब चातकको मिले वैसे ही रामराज्य दाशरथी रामजीके ही अधीन है। अन्य कार्य साइत मुहूर्त सगुनके द्वारा उनके अनुसार होते हैं और यह ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है—स्वातीकी वृष्टि और रामराज्य दोनों रामेच्छाके अधीन हैं।

जा चुका है, भूख लगी होगी। अतएव माता स्नान और भोजन करनेके लिये बार-बार बलि जा रही हैं। यहाँ कई बार बलि जाना कहा है।

टिप्पणी—२ तिलकके पहले मधुर वस्तु खाना चाहिये, दूसरे जबतक तिलक न हो जाय परिपूर्ण आहार (अन्न) न करना चाहिये। अतएव कहा कि कुछ थोड़ा-सा भोजन कर लो। पुनः, 'कछु' का भाव कि बहुत पदार्थ भोजनके हैं, उनमेंसे कुछ खा लो। (नोट-पंजाबीजी और हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि अभिषेकके पहले कुछ खाना न चाहिये। माता वात्सल्यमें पगी हुई हैं। स्नेहके मारे खानेको कह दिया। प्रेममें संयमकी सुध नहीं रह गयी।)

नोट—अ० रा० में भी कहा है—'**भुङ्क्ष्व पुत्रेति च प्राह मिष्टमन्नं क्षुधार्दितः।**' (३) अर्थात् बेटा! भूख लगी होगी, कुछ मिष्टान्न खा लो।

टिप्पणी—'***तब जायेहु भैआ***'—पूर्व कहा कि '***बोली मधुर बचन महतारी।***' अब यहाँ मधुर वचनका स्वरूप दिखाते हैं। 'भैया' कहना मधुर वचन है, यथा—'***मधुर मनोहर बचन उचारे। भैया कहहु कुसल दोउ बारे॥***' (१। २९३। ३-४)

मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला॥ ३॥
सुख मकरंद भरे श्रिय मूला। निरखि राम मनुभँवरु न भूला॥ ४॥

शब्दार्थ—**श्रिय**=श्री, लक्ष्मी, शोभा, राज्यश्री। **श्रिय मूला**=श्रीके देनेवाले, श्रीके मूल, कल्याणरूप और शोभायुक्त।

अर्थ—माताके बड़े ही अनुकूल (कृपायुक्त) वचनोंको सुनकर, जो मानो स्नेहरूपी कल्पवृक्षके फूल ही थे और जो सुखरूपी मकरन्द-रससे भरे हुए थे (एवम्) 'श्री' के मूल थे, और उन वचनरूपी फूलोंको देखकर श्रीरामचन्द्रजीका मनरूपी भौंरा उनपर न भूला, अर्थात् न लुभाया॥ ३-४॥

नोट—यहाँ माताके प्रेमसे परिपूर्ण मधुर वचन, जो राज्यकी लालसाकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले थे, उत्प्रेक्षाके विषय हैं। वचन '*अति अनुकूल*' अर्थात् अत्यन्त कृपायुक्त हैं (अथवा, बैजनाथजीके मतानुसार पिताकी प्रतिकूलताको खण्डित करनेवाले हैं)। ऐसे वचन स्नेहहीसे निकलते हैं। अतएव माताके स्नेहको कल्पवृक्ष कहा; (क्योंकि कल्पवृक्षके पास जो भी जाय उसपर वह अनुकूल ही रहता है)। और उनके स्नेहमय वचनोंको कल्पतरुका फूल कहा। मधुर वचनोंकी उपमा फूलसे प्रायः दी ही जाती है, यथा—'***बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥***' (१। २८०। ४) फूल वृक्षसे निकलता है, वैसे ही मधुर वचन स्नेहसे निकले हैं।

फूलमें मकरंद-रस होता है। माताके स्नेहपूर्ण वचनोंमें सुखरूपी मकरंद-रस है। फूलमें रस बहुत थोड़ा रहता है; पर वचनरूपी फूलोंमें सुखरूपी मकरंद परिपूर्ण है। इसीसे '***सुख मकरंद भरे***' कहा, यह विशेषता है। वचनमें क्या सुख भरा है, सो सुनिये। माताने तिलककी लग्न पूछी है जो सुखकी सीमा है, यथा—'***कबहिं लगन मुदमंगल कारी॥***', '***सुकृत सील सुख सींव सुहाई।***' अतः वचनमें जो सुख भरा है वही परिपूर्ण मकरंद-रस है।

कल्पवृक्षके फूल श्रीमूल हैं अर्थात् श्री (लक्ष्मी) के देनेवाले हैं। और माताके वचनोंमें भी 'राज्यश्री' की प्राप्ति है। अतः वचनोंको '*श्रियमूला*' कहा। पुनः, श्रियमूलाका भाव कि वचन लक्ष्मीके मूल हैं; क्योंकि राज्याभिषेक होनेपर श्रीरामजी समस्त श्रीके पति होवेंगे। [बाबा हरीदासजीका मत है कि 'वृक्षमें पुष्प, पुष्पमें रस और सुगन्ध होती है। वैसे ही स्नेहसे वचन, वचनमें सुख और श्री। श्री (अर्थात् शोभा) मूल अर्थात् सुगन्ध है। सुगन्ध पृथ्वीका गुण है जो पहले मूलहीमें वास करता है तब फूलमें आता है। अतएव सुगन्धको मूल कहना कारण नाम है।' वीरकविजीका मत है कि '*श्रियमूला*'=जिसकी जड़ राजलक्ष्मी है। श्रीमूल अर्थात् 'राज्यप्राप्तिकी अभिलाषासे परिपूर्ण' पर मधुरताका आरोपण किया गया है। यहाँ 'परम्परित रूपक अलङ्कार' और 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है]।

फूलपर भ्रमर बैठता है। यहाँ राम-मन भ्रमर है। भौंरा तो सामान्य फूलोंपर भी बैठता है, पर श्रीरामचन्द्रजीका मनरूपी भौंरा स्नेहकल्पवृक्षके अति अनुकूल सुख और श्रीके देनेवाले वचनरूपी फूलोंपर भी न गया। भ्रमरका लुब्ध न होना 'दूसरा विषम अलङ्कार' है। *'मन न भूला'* अर्थात् श्रीरामजी उनके वचनोंसे मोहित न हुए, उन्होंने पितु-आज्ञापालनरूपी परमधर्मको छोड़कर सुखकी इच्छा न की। यदि करते तो धर्मकी हानि होती। धर्म छोड़कर राज्यश्रीके सुखकी इच्छा करना भूलना है।

दीनजी लिखते हैं कि मन न भूला अर्थात् उन्होंने भोजन न किया। पण्डितजी लिखते हैं कि 'माताकी दी हुई वस्तुको उचित है कि भोग करें, उसमें शोभा है, वह श्रेयकर है; किंतु उसे भी देखकर रामजीका मन उसपर न चला क्योंकि धर्ममें बाधा होती है। यहाँ अलौकिक लोकोत्तर कहा। रसग्राही आसक्त होते हैं, वे ही विषयोंमें भूल जाते हैं—*'लोलुप भूमि भोग के भूखे।'* इनकी भी गिनती उन्हींमें हो जाती।' ये तो धर्म-धुरीण हैं; इसीसे उसमें न भूले।

धरमधुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी॥५॥
पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥६॥
आयेसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥७॥
जनि सनेहबस डरपसि भोरें। आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥८॥

अर्थ—धर्मका भार वा धुरी धारण करनेवाले धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी धर्मकी गति जानकर मातासे अत्यन्त कोमल वाणीसे बोले॥५॥ पिताने मुझे वनका राज्य दिया है जहाँ सब तरहसे मेरा बड़ा काम है॥६॥ माता! प्रसन्न मनसे आज्ञा दीजिये जिससे वन-यात्रामें आनन्द-मङ्गल हो॥७॥ मेरे प्रेमके वश होकर भूलकर भी डरो नहीं। हे माता! आपकी कृपासे आनन्द ही होगा॥८॥

टिप्पणी—१ 'धर्मधुरीण' अर्थात् कैसा भी कठिन धर्म क्यों न हो उसको धारण और पालन कर सकते हैं *'धरम गति जानी'*—भाव कि राज्यके ग्रहण करनेमें धर्मका नाश होगा, यह समझकर वे धर्ममें स्थित रहे, राज्यपर न लुब्ध हुए।

नोट—१-'धर्मधुरीण' विशेषण देकर जनाया कि इस अवसरपर श्रीरामचन्द्रजीने धर्मका ही अवलम्ब लिया, माताको भी धर्मपर आरूढ़ होनेको कहा है। वाल्मी० सर्ग २१ देखिये। उन्होंने समझाया है कि धर्म ही सब पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। धर्ममें सत्यस्वरूप परमात्माका निवास है। पिताकी आज्ञा मैंने कैकेयीके मुखसे सुनी है। पिताका यह वचन धर्म और सत्यसे युक्त है और मैंने पिताकी आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की है। तुम्हें भी इस विशुद्ध धर्मका अनुगमन करना चाहिये। (२। २१। ४१—४४) दशरथजी हमारे पिता हैं, वृद्ध हैं, राजा हैं और गुरु हैं। वे क्रोधसे, प्रसन्नतासे अथवा किसी स्वार्थसे हमलोगोंको जो आज्ञा दें उसे धर्म समझकर पालन करना चाहिये। पति ही स्त्रियोंकी गति है और वे ही उनके धर्म हैं। राजा जीते हैं और अपने धर्ममें वर्तमान हैं।......इत्यादि। (श्लोक ५९—६१)—इस धर्मोपदेशके कारण वाल्मीकिजीने लिखा है कि धर्ममें स्थित श्रीरामचन्द्रजी जो धर्मयुक्त वचन बोले, वे ही बोल सकते थे। उनके ही समान धर्मात्मा मनुष्योंके बोले जाने योग्य वे वचन थे। यथा—**'धर्मे स्थितो धर्ममुवाच वाक्यं यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम्।'** (५५)—ये सब भाव *'धरमधुरीन'* शब्द से जना दिये हैं।

टिप्पणी—२ *'अति मृदु बानी'* बोले जिसमें माता वनगमन-समाचार सह सके, घबड़ा न जाय। (पुनः भाव कि श्रीरामजी मृदु विनीत वचन तो सदा ही बोलते हैं पर इस समय अत्यन्त मृदु वचन बोले।)

वि० त्रि०—*'पिता दीन्ह।'* तुम लग्न पूछ रही हो, *'कबहिं लगन मुद मंगलकारी'*; सो पिताजीने मुझे राज्य दे दिया। वनका राज्य मुझे मिला है। यदि कहिये कि वनका राज्य क्यों दिया? तो उत्तर यह है कि वहाँ मेरी बड़ी आवश्यकता है। वनकी व्यवस्था बिगड़ी हुई है, वह बिना मेरे गये सुधर नहीं सकती। और वस्तुतः रामजीने कभी अपने मनमें इस बातको स्थान नहीं दिया कि *'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू'*।

उन्होंने सदा अपनेको वनका राजा ही माना, यथा—*'राम लषन सीता सहित सोहत परन निकेत। जनु बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत॥'* भरतजीने भी जाकर वैसा ही दृश्य देखा, यथा—*'राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जिमि पाइ सुराजा॥'* और राजाकी भाँति ही रहे, यथा—*'एक बार चुनि कुसुम सोहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥ सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुंदर॥'* वेष भी वनके राजाओंका रखते थे, जटाका मुकुट धारण करते थे, उसमें फूल गुँथा रहता था। सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य दिया, विभीषणको लङ्काका राज्य दिया, समुद्रपर सेतु बाँधा, वानरी सेना लेकर लङ्कापर आक्रमण करके उसपर विजय किया। मुनि लोगोंकी दुष्ट निशाचरोंसे रक्षा की, यथा—*'जाकर भुज बल पाइ दसानन। अभय भये बिचरहिं मुनि कानन॥'* इस भाँति वनकी बिगड़ी हुई व्यवस्थाको खूब सँभाला। वही बात मातासे कह रहे हैं कि *'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।'* पिताजीने बात बदल दी, इस बातको माननेके लिये रामजी तैयार नहीं। पिताकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये रखना ही उन्हें प्रिय है, यथा—*'जानहु तात तरनिकुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥'* दूसरी बात यह भी है कि रानी कैकेयीने तो वर माँगा था कि *'तापस बेष बिसेष उदासी। चौदह बरस राम बन बासी॥'* यदि बातको इसी भाँति कह देते तो महारानी कौसल्याको अकस्मात् बड़ा आघात पहुँचता, इसलिये उसी बातको जितना मृदु बनाया जा सकता है बनाकर कहा। अत्यन्त कटु समाचारको भी मृदु बनाकर कहना, यह भारतकी सभ्यता है।

टिप्पणी—३ *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू'''* इति। (क) धर्मधुरीण हैं, धर्मकी गति जानते हैं, अतएव धर्मकी बात बोले। पिताकी आज्ञा सुनायी। आज्ञापालन धर्म है, यथा—*'पितु आयसु सब धरमक टीका।'* (५५। ८) (ख) *'कानन राजू'*—माता प्रसन्न हैं कि राज्याभिषेक होनेवाला है, अतएव राज्यकी सूचना देते हैं, हमें राज्य दिया है, वनका राज्य हमें मिला, शहरमें न बैठकर राज्य किया, वनमें ही राज्य किया, पर है राज्य ही। इस प्रकार कहा जिसमें माता सहम न जायँ जैसे राजा सहम गये थे—*'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥'''* (२९। ५-८) माताको दुःख न हो जाय, अतः इस प्रकार कहा। यही *'अति मृदु बानी'* है। कितनी कठोर बातको कितना कोमल करके कहा! *'राजू'* शब्द ही श्रीरामजीको प्रसन्नता और हर्ष (वनगमनमें) जनानेको पर्याप्त है, केवल *'कानन'* कहनेसे मनमें दुःखकी प्रतीति भी की जा सकती थी। (ग) *'सब भाँति'* अर्थात् अवधमें तो एक ही भाँतिका काम है अर्थात् राज्यसुखका भोग होगा और वनमें जानेसे सब तरहका काम होगा। राज्य शत्रुओंसे रहित हो जायगा। बहुत-से राजा मित्र बन जायँगे, आगे राज्यमें कोई कष्ट न रह जायगा, इत्यादि-इत्यादि। (घ) *'मोर बड़ काजू'*—यह बड़ा काम वही है जो कैकेयीजीसे कहा था अर्थात् *'मुनिगन मिलन बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर'''।'* (४१) संतसमागम और भूभारहरण होगा, ऋषि, देवता, मनुष्य सबको राक्षसोंसे निर्भय करूँगा, यह सब काम वनके राज्यमें हैं। *'बड़ काजू'* कहकर सूचित किया कि घरमें राज्य करना भी 'काज' है पर यह छोटा है और वनके राज्यमें मुनिगण-मिलन आदि बड़ा कार्य है। *'मोर'* का भाव कि अवधराज्यमें और सबका काम होगा (मेरा नहीं) और वनके राज्यमें मेरा बड़ा हित होगा—[पुनः बड़ा काम रावण-मेघनाद-वध आदि है जो और किसीसे न हो सकेगा, मुझसे ही हो सकेगा और यहाँका काम तो और भी कर सकते हैं। भरतजी कर लेंगे। पुनः *'मोर बड़ काजू'* कहनेका भाव कि अतएव मुझे वन जानेसे रोकियेगा नहीं, धर्म जानकर उसके लिये शीघ्र आज्ञा दे दीजिये।]

टिप्पणी—४ *'आयेसु देहि मुदित मन माता।'''* इति। इससे जान पड़ता है कि वनका समाचार सुनकर माताका मन मलिन हो गया था, मुखपर उदासी छा गयी थी, इसीसे श्रीरामजीने कहा कि 'मुदित मनसे आज्ञा दीजिये।' आज्ञा क्यों माँगते हैं सो कहते हैं कि जिसमें हमारा मुद मङ्गल हो। प्रभु समझते हैं कि हमारा कल्याण जिसमें होगा, हमारा आनन्दमङ्गल जिसमें होगा, उसे यह अवश्य करेंगी; अतः कहा कि आज्ञासे हमारा कल्याण होगा, हमें आनन्द-मङ्गल होंगे, जिसमें वे आज्ञा दे दें; नहीं तो न देंगी। [पुनः, हर्षसहित आज्ञा दो, जिसमें इस राज्यमें तो विघ्न हुआ, वहाँ विघ्न न हो, वनमें जाते हुए हमारा श्रेय हो—(खर्रा)]

टिप्पणी—५ यहाँ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों दिखाये—'*सुख मकरन्द भरे श्रिय मूला*' यह अर्थ है, '*धरमधुरीन धरम गति जानी*' यह धर्म है, '*जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू*' यह काम है और '*आयेसु देहि मुदित मन माता*' यह मोक्ष है। माताकी आज्ञाका पालन मोक्षप्रद है, यथा—'*मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥*' '*साधन एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥*'—यहाँ 'सुगति' मोक्षका वाचक है। श्रीरामचन्द्रजीने अर्थ त्यागकर धर्म, काम और मोक्षको ग्रहण किया।

टिप्पणी—६ '*जनि सनेहबस डरपसि भोरें।*''' इति। (क) भाव कि आपको भय है कि वनमें पुत्रको दुःख होगा, सो न डरिये। आपके अनुग्रहसे हमको आनन्द होगा। (ख) '*सनेहबस*' का भाव कि हमको भय नहीं है अतः तुमको भय न करना चाहिये, तुम जो डर रही हो वह केवल हमारे स्नेहके कारण, वस्तुतः कोई भय नहीं है। (पु० रा० कु०)

नोट—२ मिलान कीजिये—'**सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि। यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः॥**' (वाल्मी० २। २१। ६२) अर्थात् हे देवि! मुझे वन जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरे लिये स्वस्तिवाचन आदि कीजिये। जिससे अवधिकी समाप्तिपर मैं पुनः लौट आऊँ, जिस प्रकार ययाति सत्यके कारण पुनः स्वर्गको लौट गये। तथा च '**कुरु स्वस्त्ययनानि मे।**' (४६) जैसे वाल्मीकीयमें दो बार कहा है वैसे ही यहाँ '*आयेसु देहि*''''*जेहि मुद मंगल कानन जाता*' और '*आनँदु अंब अनुग्रह तोरे*' कहा। अ० रा० में कहा है कि दुःख दूर करके हमें वन जानेकी अनुमति दीजिये, ऐसा करनेसे मैं वनमें सुखपूर्वक रह सकूँगा। यथा—'**अनुमन्यस्व मामम्ब दुःखं सन्त्यज्य दूरतः। एवं चेत्सुखसंवासो भविष्यति वने मम॥**' (२। ४। ४७) मानसके आयसु देहि, मुदित मन, माता और अंब तथा '*आनँदु अंब अनुग्रह तोरे*' क्रमशः अ० रा० के **अनुमन्यस्व, दुःखं संत्यज्य दूरतः, अंब** और '**एवं''''मम**' हैं।

प० प० प्र०—'*जनि सनेहबस डरपसि*'''' इति। भाव कि साधारण, अज्ञानी, विषयी जीव स्नेहके वश होकर डरसे कर्तव्यच्युत तथा धर्मच्युत हो जाते हैं। कैकेयीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'*सुत सनेह इत बचन उत संकट परेउ नरेसु।*' (४०) श्रीरघुनाथजीने श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीदशरथजीसे भी ऐसा ही कहा है। यथा—'*जौं हठ करहु प्रेम बस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥*' (६२। ३), '*तात प्रेम बस जनि कदराहू।*' (७०। ८), '*मंगल समय सनेह बस सोचु परिहरिअ तात। आयसु देइअ हरषि हिय''''॥*' (४५) उपर्युक्त चारों वाक्यों तथा यहाँके '*जनि सनेहबस*''''''' से सिद्धान्त कहा कि जीव स्नेहवश होकर भयग्रस्त एवं शोकाकुल होकर शोकके निवारणके लिये हठ करता है, परिणामका विचार नहीं करता, इसीसे अन्तमें दुःख पाता है।

नोट—३ मुं० रोशनलाल '*आनँदु अंब अनुग्रह तोरे*' का अर्थ यह भी करते हैं कि आपकी अनुग्रह हमारे आनन्दकी अंब, आनन्दको उत्पन्न करनेवाली है।

दो०—बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहौं मनु जनि करसि मलान॥ ५३॥

अर्थ—चार और दस (चौदह) वर्ष वनमें रहकर पिताके वचनको प्रमाणित (पूरा) करके फिर लौटकर आपके चरणोंका दर्शन करूँगा, अपने मनको मलिन न कीजिये अर्थात् दुःखी न हूजिये॥ ५३॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमारजी—पहले कहा कि '*पिता दीन्ह मोहि कानन राजू*' इससे यह न जान पड़ा कि कितने दिनके लिये वनवास दिया गया। अब उसे कहते हैं कि केवल १४ वर्षके लिये वनमें रहना होगा।

टिप्पणी—२ '*बरस चारिदस*'— १४ न कहा, न दसचार कहा वरन् '*चारिदस*' कहा। गोस्वामीजीने प्रथम ही कह दिया है कि '*कहेउ मातु सन अति मृदु बानी*', वही अत्यन्त कोमलता दिखाते चले जाते हैं। श्रीरामजी जानते हैं कि १४ वर्ष भी सुनकर माताका कोमल हृदय सहन न कर सकेगा, अतएव उस

वनवासकी अवधिको भी कोमल करके कहते हैं, १४ के उन्होंने दो भाग कर दिये ४ और १० और उसपर भी प्रथम अल्पकालवाचक **'चारि'** शब्द कह सुनाया जिसमें माता सह सके, व्याकुल न हो जाय।

टिप्पणी—३ 'इतना ही नहीं, इस 'चारि दस' वर्षकी बात और भी कोमल करनेके लिये तुरत ही पुनः मिलन, वियोगकी बातके साथ ही पुनः शीघ्र संयोगकी बात या यों कहिये कि जानेके साथ ही आनेकी बात कही जिसमें माताको धैर्य हो। माताको दुःख न हो इसका कितना खयाल और सँभाल है! यहाँ 'चपलातिशयोक्ति अलङ्कार' है।

नोट—**'*आइ पाय पुनि देखिहौं*……'**, इनमें यह ध्वनि है कि तुम जीवित रहोगी, तुम्हारे चरणोंका दर्शन १४ वर्ष बीतनेपर मुझे फिर होगा। पितासे जो वचन कहे थे उनसे मिलान कीजिये।—**'*चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी।*'** वहाँ श्रीरामजीने नहीं कहा कि १४ वर्षपर लौटकर फिर आकर दर्शन करूँगा। उन वचनोंसे उनकी भावी प्रकट होती है कि वे जीवित न रहेंगे। (खर्रा)

बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु उर करके॥ १॥
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास परे पावस पानी॥ २॥
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥ ३॥
नयन सजल तन थरथर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी॥ ४॥

शब्दार्थ—**करके**—करकना वा कड़कना=रुक-रुककर पीड़ा होना, रह-रहकर दर्द होना, कसकना, सालना, खटकना। बाणके चुभनेसे जैसी कसक होती है उसे 'करक' कहते हैं। **पावस**=(सं० प्रावृट्) वर्षा-ऋतु, श्रावण-भादोंकी वर्षाकालका प्रथम जल। **केहरि नादू**=सिंहकी गरज। **नादू**=शब्द, गरज। माँजा=पहली वर्षाका फेन जो मछलियोंके लिये मादक होता है, यथा—**'*तलफत बिषम मोह मन मापा। माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा॥*'** मापना=मतवाला होना। माँजा खानेसे मछलियाँ बेहोश हो जाती हैं और पानीके ऊपर आ जाती हैं, बहुत-सी मर भी जाती हैं। पंजाबीजी और हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि पानीमें सेहुँड़ आदिके सड़नेसे जो फेन निकलता है उसे भी माँजा कहते हैं। 'जवासा' (सं० यवासक)। एक कँटीला क्षुप जिसकी पत्तियाँ करौंदेकी पत्तियोंके समान होती हैं। यह नदियोंके किनारे बलुई भूमिमें आप-से-आप उगता है। वर्षाके जलके पड़नेसे इसकी पत्तियाँ गिर जाती हैं और फिर आश्विनतक वह बिना पत्तियोंके रहता है। वर्षाके बीत जानेपर यह फूलता-फलता है।

अर्थ—रघुवरके बहुत ही नम्र और मीठे वचन माताके हृदयमें बाणके समान लगे और कसकने लगे॥ १॥ शीतल वचनोंको सुनकर वह सहम (डर) कर सूख गयी जैसे वर्षाकालका प्रथम जल पड़नेसे जवासा सूख जाता है॥ २॥ हृदयका दुःख कुछ कहा नहीं जाता, मानो सिंहकी गरज सुनकर हरिणी व्याकुल हो गयी है॥ ३॥ नेत्रोंमें जल भर आया है, देह थर-थर काँपने लगी। मानो मछली माँजाको खाकर मादकताको प्राप्त हो गयी है (मतवाली हो गयी)॥ ४॥

नोट—१ **'*सर सम लगे मातु उर करके*'** इति। बाण लगनेसे पीड़ा और व्याकुलता होती है, बोल नहीं निकलती। वैसे ही माताके हृदयमें पीड़ा हुई, वे व्याकुल हो गयीं, मुखसे बोल न सकीं। यहाँ पूर्णोपमालङ्कार है। **'*उर करके*'** से जनाया कि न घाव है न सूजन, फिर भी पीड़ा होती है—(पण्डितजी)।

नोट—२ **'*सहमि सूखि*……*जिमि जवास परे पावस पानी*'** इति। (क) मधुर वचनोंकी बाणसे उपमा देकर हृदयकी पीड़ा कही। अब पावसकी उपमा देकर तनकी दशा दिखायी कि वह जवासेकी तरह सूख गया। यहाँ उदाहरण अलङ्कार है। (ख) सूखना गर्मीसे होता है, वचन ठंढे हैं; इससे कैसे सूख गयीं? अतः दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे ठंढे वर्षा-जलसे जवासा सूखता है (अर्थात् उसकी पत्तियाँ गिर जाती हैं) वैसे ही ये सूख गयीं।

नोट—३ **'*कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू।*……'** इति। (क) अर्थात् ऊपरकी दशा हमने कुछ कही

कि—जवासकी तरह सूख गयीं, मृगीकी तरह भयसे सहम गयीं, मछलीकी तरह थर-थर काँपने लगीं, कण्ठ गद्गद हो गया। पर हृदयका विषाद कुछ कहते नहीं बनता। न सुननेमें आवे न देखनेमें, तो कहते कैसे बने? यहाँ उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा है। (ख) *'मृगी सुनि केहरि नादू'* इति। सिंह मृगीका घातक नहीं है तो भी वह गरज सुनकर डर जाती है। वैसे ही अधर्म-गज-विदारणहेतु धर्म-वीरता लिये हुए श्रीरामजी सिंहवत् शब्द बोले। पर माता पुत्रवियोग-भयसे मृगीवत् डर गयीं। (वै०)

नोट—४ वचन हृदयमें प्रवेश कर गये; इसीसे बाणकी उपमा दी। तन सूख गया, अत: जवासकी, भय उत्पन्न हुआ अतएव मृगीकी और शरीर थर-थर काँपने लगा, इससे मछलीकी उपमा दी।

धरि धीरजु सुत बदनु निहारी। गदगद बचन कहति महतारी॥५॥
तात पितहि तुम्ह प्रान पिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥६॥
राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा॥७॥
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर कुल भयेउ कृसानू॥८॥

शब्दार्थ—गदगद (गद्गद) अर्थात् शोकके मारे कुछ वचन मुखसे निकलते हैं, कुछ नहीं, गला भर आता है, कण्ठ रुक जाता है; अच्छी तरह वचन नहीं निकलता ऐसे वचनोंको यहाँ **'गदगद बचन'** कहा। **चरित**=आचरण, कार्य, शील-स्वभाव, गुण इत्यादि। **साधा**=निश्चित किया। **निदानू**=कारण, आदि वा मूल कारण।

अर्थ—धीरज धरकर पुत्रके मुखको देखकर माता गद्गद वचन कहती हैं॥ ५॥ हे तात! तुम तो पिताको प्राणप्रिय हो। वे तो तुम्हारे चरित्रोंको देख-देखकर नित्य ही प्रसन्न होते रहे हैं॥६॥ राज्य देनेके लिये उन्होंने शुभ मुहूर्त्त शोधवाया था। तब किस अपराधसे वन जानेको कहा?॥७॥ हे तात! मुझे इसका कारण सुनाओ। दिनकर-(सूर्य-)कुलके लिये कौन अग्नि हुआ?॥८॥

नोट—१ यहाँतक माताके मन, तन, वचन तीनोंकी दशा दिखायी जो वनका समाचार सुननेसे हुई। *'कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू।'* यह मनकी व्याकुलता है, *'नयन सजल तन थर थर काँपी'* यह तनकी व्याकुलता है और *'गदगद बचन कहति महतारी'* यह वचनकी व्याकुलता है। अर्थात् यह दिखाया है कि इनके मन, तन और वचन तीनोंमें व्याकुलता व्याप्त हो गयी है।

नोट—२ (क) *'धरि धीरजु सुत बदनु निहारी'* इससे सूचित होता है कि दु:ख और सुख दोनोंमें श्रीरामजीके प्रति कौशल्याजीका भाव एकरस बना रहता है। राज्याभिषेकके कारण जब उन्हें अत्यन्त दु:ख हो रहा था तब भी वे श्रीरामजीका मुख देखकर बोली थीं, यथा—*'सादर सुंदर बदनु निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥'* और वैसे ही इस समय अत्यन्त दु:खमें भी वे पुत्रका मुख देखकर बोलीं। पुन: वात्सल्यरसमें माता-पिता आदिकी दृष्टि स्वाभाविक ही पुत्र आदिके मुखपर ही जाती है। वे देख रही हैं कि पिताने राज्य सुनाकर वनवास दे दिया तब भी पुत्रका मुख पूर्वसे भी अधिक प्रसन्न है—*'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।'* (ख) धीर धरकर बोलीं। भाव यह कि वचन बाण-से लगे थे। पीड़ाके मारे धैर्य जाता रहा था। इतनी पीड़ा होनेपर भी धैर्य धारण किया। जैसे बाण लगनेसे करकके मारे अच्छी तरह बोलते नहीं बनता वैसे ही ये अच्छी तरह नहीं बोल सकतीं, गद्गद वचन कहती हैं।

नोट—३ *'तात पितहिं""केहि अपराधा'*—भाव कि प्राणप्रिय पुत्रको कोई वनमें न भेजेगा, फिर जिसके गुण और कार्य नित्य ही देखकर आनन्द होता है वह उस आनन्दके कारणको अपनेसे अलग कैसे करेगा? राज्य देना निश्चित करके सब तैयारी कराके राजाने वचन कैसे छोड़ दिये और उसके विपरीत वन कैसे दे दिया? ये सब आश्चर्य और अघटित घटना हैं। अतएव इसमें कोई दुर्घट कारण है। *'राज देन कह""""कहेउ जान बन'* में तृतीय असङ्गति अलङ्कार' है। *'केहि अपराधा'*— भाव कि पूर्वकथित बातोंसे तुम्हारा अपराध-योग्य होना सम्भव नहीं और दण्ड बिना अपराधके होता नहीं। अत: पूछती हैं कि *'कहेउ जान बन केहि अपराधा।'* यहाँ आश्चर्य स्थायीभाव है।

पुरुषोत्तम रा० कु०—१ *'तात सुनावहु मोहि निदानू।'* इति। आदि कारण पूछती हैं जिसमें यदि कुछ उपाय लग सके (कारगर हो) तो उसका उपाय करें। कारण सुना तो फिर कोई उपाय किया? हाँ! *'जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥', 'तुम बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेस'* इत्यादि जो वचन कौशल्याजीके रामप्रति हैं ये ही वन जानेसे रोकनेके उपाय हैं।

२—*'को दिनकर कुल भयउ कृसानू'* इति। प्रथम कौशल्याजीने कहा कि तुम राजाके प्राणप्रिय हो, किस अपराधसे तुम्हें वन जानेको कहा? फिर स्वयं ही विचार किया कि न तो राजाका प्रेम ही श्रीरामजीमें घट सकता है और न रामजी अपराध-योग्य हैं तो फिर कैसे राजा इन्हें वन जानेको कहते हैं? इसका कारण कोई और ही है। इसीसे पूछती हैं कि *'तात सुनावहु मोहि""'*।

दो०—निरखि रामरुख सचिवसुत कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ॥ ५४॥

शब्दार्थ—'**मूक**'=गूँगा।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका रुख देखकर मन्त्रीके पुत्रने (सब) कारण समझाकर (अर्थात् अच्छी तरह) कहा। वृत्तान्त सुनकर वह गूँगी-जैसी रह गयीं, उसकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती॥ ५४॥

नोट—*'निरखि रामरुख'* अर्थात् रामजीने अपने मुखकी चेष्टासे मन्त्रीके पुत्रको इशारा कर दिया कि तुम कहो। उन्होंने स्वयं न कहा, इसका कारण एक तो यह है कि कारण सुनानेके प्रसङ्गमें बीच-बीचमें उनकी प्रशंसा है, अपने मुखसे अपनी प्रशंसा कैसे कहें? दूसरे कैकेयी भी तो राजा दशरथकी रानी हैं, हैं तो वे भी माता, यद्यपि सौतेली ही हैं तो क्या? श्रीरामजी परम सुशील और धर्मात्मा हैं, पिताकी सभी स्त्रियोंको, विवाहित ही नहीं किंतु अविवाहित ही क्यों न रही हों, सभीको निज माताके समान मानते थे, फिर भला वे अपने मुखसे मातामें कुचाल या दोष कैसे कहते? उनका तो अवतार ही मर्यादापुरुषोत्तमका है, वे माता-(पिताकी पत्नी-)की ओर पुत्रका कैसा आदर्श व्यवहार होना चाहिये, यह दिखा रहे हैं। इस आदर्शसे अपनेको क्यों गिरायेंगे? मर्यादाको क्यों तोड़ेंगे? तीसरे इसमें पितापर भी लाञ्छन आता है कि स्त्री-वश वे अपना रामराज्याभिषेकवाला पूर्ववचन छोड़ बैठे। अत: स्वयं न कहा। सचिवसुत—मन्त्रीका पुत्र अभिनन्दन साथमें था, उसने कहा।

प० प० प्र०—कैकेयीजीने वनवास कैसे दे दिया, यह कहनेमें यहाँ संकोच हुआ पर वाल्मीकिजीसे तो सब वृत्तान्त श्रीरामजीने स्वयं ही कहा है, यथा—*'अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी॥'* (१२५। ८) इसका कारण यह है कि उस समय केवल लक्ष्मणजी और सीताजी ही साथ थीं। यदि लक्ष्मणजीको कहनेका इशारा करते तो वे अपने स्वभावानुसार राजा और कैकेयीके विषयमें बिना कुछ कठोर भाषण किये न रहते, यह श्रीरामजी जानते थे, अत: परिस्थितिवश उन्हें वहाँ अपने मुखसे ही सब वृत्तान्त सुनाना पड़ा।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ *'निदानू'* का अर्थ 'कारण' स्पष्ट कर दिया गया। ऊपर *'सुनावहु मोहि निदानू'* और यहाँ *'कारन कहेउ बुझाइ।'* (यह भी सूचित होता है कि शंबरासुरके संग्रामसे लेकर वरदानका पूरा वृत्तान्त कहा)। (ख) *'कहेउ बुझाइ।'* इति। माता विकल हैं, इससे समझा-समझाकर कहा। (ग) *'सुनि प्रसंग रहि मूक जिमि'* इति। जब श्रीरामजीने कहा कि पिताने हमें काननका राज्य दिया है तब उन्होंने कारण पूछा यह समझकर कि यदि पिताने आज्ञा दी होगी तो हम इन्हें वन न जाने देंगी, क्योंकि मैं माता हूँ। पितासे मेरा गौरव दशगुणा है। पर जब सुना कि कैकेयीने वन दिया है तब चुप रह गयीं कि वे हमसे दशगुणा माननीय हैं, हम उनके वचनपर कुछ नहीं बोल सकतीं। [*'दसा बरनि नहिं जाइ'* का भाव कि उस दशाकी सुध करते ही मन करुणावश हो जाता है। (वै०)]

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥ १॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधिगति बाम सदा सब काहू॥ २॥

शब्दार्थ—**सुधाकर**=अमृत किरणोंवाला, चन्द्रमा। **गति**=कर्त्तव्य, चाल।

अर्थ—न रख ही सके और न कह सके कि वन जाओ। दोनों ही तरहसे हृदयमें कठिन दाह (जलन) होता है॥ १॥ (मनमें सोचती हैं कि क्या हो गया?) विधिकी चाल सदा सबके लिये टेढ़ी होती है। (देखो तो!) चन्द्रमा लिखते हुए लिख गया राहू॥ २॥

नोट—१ *'निरखि राम रुख·····'* से कविके वचन हैं। यहाँ कवि प्रथम संक्षेपसे पाठकको पात्रके विचार बता देते हैं जो उसको आगे व्याख्या-रूपसे मिलेंगे।

टिप्पणी—१ *'राखि न सकइ·····दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू।'* इति। (क) इसीकी व्याख्या आगे है, यथा—***'राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥'*** , ***'कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी॥'*** अर्थात् घरमें रखनेसे धर्मकी हानि है और वन जानेको कहूँ तो स्नेहकी हानि है, प्रेम न हो तभी ऐसा कोई कह सकता है। प्रथम रोकनेका विचार था इसीसे यहाँ पहले ***'राखि न सकइ'*** कहा। (ख) दोनों तरह कठिन दाह है। भाव यह कि यदि इनमें किसीसे कम दाह होता तो वही करती, दूसरी बातको छोड़ देती पर दोनोंसे एक-सा ही दुःख हो रहा है; इससे कुछ करते नहीं बनता। (पण्डितजी—'दोनोमें असमर्थ हैं इसीसे यहाँ क्षुद्रपद दिया—'**सकइ**')

टिप्पणी—२ ***'लिखत सुधाकर गा लिखि राहू'*** इति।—विधिका कर्तव्य सबको सदा टेढ़ा है, यह कौशल्याजीके मनका विचार है। राज्य चन्द्रमा है, सबको सुखदाता है, इसीसे सुधाकर कहा। वन राहु है, सबको दुखदाता है। ***'सदा सब काहू'*** का भाव कि सब युगोंमें विधिगति वाम है—सत्ययुगमें नलके ऊपर, त्रेतामें श्रीरामजीके ऊपर, द्वापरमें युधिष्ठिरके ऊपर। ***'सब काहू'*** अर्थात् चाहे छोटा हो चाहे बड़ा। ***'बिधिगति'***—भाव कि विधिके ही करनेसे सबपर दुःख-सुख पड़ता है। कौशल्याजीपर इस समय विधाता वाम हैं, इसीसे वे सदा सबके लिये वाम समझती हैं।

नोट—२ पण्डितजी—कैकेयी सदा रामराज्य माँगती रही, अन्तमें उसने वन माँगा। यह विधिकी वामतासे हुआ, यथा—***'बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्हीं बावरी।'*** (२००) ***'गा लिखि राहू'*** का भाव कि राहु लिखनेकी इच्छा न थी, विधिकी वामतासे ऐसा लिख गया, वैसे ही किसीकी इच्छा नहीं है कि राम राज्य छोड़कर वनको चले जायँ।* जैसे राहुके लिख जानेसे चन्द्रमाका लोप हो गया वैसे ही वन-गमनसे राज्यका लोप हो गया।

नोट—३ चन्द्रमा लिखते हुए राहु कैसे बन सकता है? काष्ठजिह्वा स्वामीजी लिखते हैं कि धनुषके समान चन्द्रका रूप है और मकरसम राहुका। चन्द्रमा बनाते समय एक कोरपर स्याही अधिक पड़ जाय तो चन्द्रका राहु बन जाय।

नोट—४ वि० त्रि०—आह्लादकारी होनेसे अभिषेकको चन्द्रमा और उसका ग्रासकारी होनेसे रामजीके वनवासको राहु कहा। लेखक चन्द्रमा लिखने बैठा सो राहु लिख गया। भाव यह कि चक्रवर्तीजीने राज्य देनेका उपक्रम किया, बीचमें रानी कैकेयी कूद पड़ी, अतः दुःखदायी वनवास देना पड़ा। अब शङ्का यह उठती है कि 'चन्द्रमा लिखने जो बैठा वह किसी विक्षेपके आनेसे राहु कैसे लिख बैठेगा? चन्द्रमा लिखनेमें किसी कारणसे बिगड़ भी जाय तो राहु कैसे लिख जायगा? वह बिगड़कर चन्द्रसा, चंडमा, वंदसा आदि भले ही हो सकता है, पर 'राहु' नहीं हो सकता?', इसका बड़ा सुन्दर समाधान महात्मा देवस्वामीने दिया है। उनका कथन है कि कर्मकाण्डमें 'चन्द्र' का आकार द्वितीयाके चन्द्रमा-सा लिखा जाता है, और 'राहु' का आकार सूं० (सूपां) सा माना जाता है, सो लिखनेके समय स्याहीके गिर जानेके कारण अर्धचन्द्रका पेटा भर जानेसे सूर्पाकार होकर राहु ही बन गया। इसी भाँति कैकेयीके बीचमें आ जानेसे राज्य वनराज्यमें परिवर्तित हो गया।

नोट—५ बाबा हरिदासजी अवधवासी कहते हैं कि यह नयी बात ब्रह्माकी नहीं है। सदासे उनकी

* यहाँ 'ललित अलङ्कार है' और व्यङ्ग्यार्थसे 'विषादन अलङ्कार' है कि मनचाही बात न होकर उसका उलटा हुआ।

चाल ऐसी ही है। देखिये, हिरण्यकशिपुकी लड़की सिंहिका विप्रचित्ती दैत्यको ब्याही गयी। ब्रह्माने सोचा कि चन्द्रमा और सूर्य देवताओंका जन्म इसके उदरसे कर दें तो कनककशिपु इनका नाना होगा। ननिहालके नातेसे दैत्य इनसे वैर न करेंगे। यह सोच सिंहिकाके माथेपर 'राकेश' लिखने लगे, भावीवश 'रा' लिखकर 'केश' की जगह 'हू' लिख गये। राकेशका राहू बना दिया, जो सबसे अधिक दुःख चन्द्र-सूर्यको देता है। वैसे ही राजाने लोकमङ्गलहेतु राज्य देना सोचा सो वे घरमें भी न रहने पाये, राजाका मरण हुआ, मङ्गल-समय अमङ्गल हुआ, यह विधिका चलन है।

नोट—६ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'विधिकी गति अर्थात् कर्मकाण्डकी रीति सुर-नर-मुनि-नागादि सबको सदा टेढ़ी है। भाव कि कर्म-धर्म सुलभ नहीं है, एक दिन अवश्य ही उलटा पड़ता है। जैसे, राजा बलि यज्ञ करके स्वर्ग चाहते थे सो पाताल भेजे गये। नृगादि अनेक उदाहरण ऐसे ही हैं। वैसे ही कर्मधर्मनिष्ठ राजा दशरथका मनोरथ भी उलटा पड़ा।'

मिलान कीजिये—*'बाम बिधि मेरो सुख सिरिस सुमन सम, ताको छल-छुरी कोह-कुलिस लै टेई है। कीजै कहा जीजी जू सुमित्रा परि पायँ कहै, तुलसी सहावै बिधि सोई सहियतु है।'''देह सुधागेह मृगहू मलीन कियो, ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है।'* (क० २। ४)

धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदरि केरी॥ ३॥
राखौं सुतहि करौं अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥ ४॥
कहौं जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी॥ ५॥

शब्दार्थ—'अनुरोधू'=समझाकर या हठ करके अपने अनुकूल करना—'**अनुरोधः अनुवर्त्तनं द्वे अनुकूलस्य इत्यमरविवेकः।**' रुकावट, आग्रह, विनयपूर्वक किसी बातके लिये हठ। छछुँदरि—इसकी बनावट चूहेकी-सी होती है। यह दिनमें बिलकुल नहीं देखता। रातको छू-छू करता कीड़े-मकोड़े खानेके लिये निकलता है। इसके शरीरसे तीव्र दुर्गन्ध आती है। लोगोंको विश्वास है कि यदि साँप छछूँदरको पकड़ ले तो वह छोड़नेसे अन्धा हो जाता है और खानेसे मर जाता है।

अर्थ—धर्म और प्रेम दोनोंने कौसल्याजीकी बुद्धिको घेर लिया, (इससे) उनकी दशा साँप-छछूँदरके समान हो गयी॥ ३॥ (वे सोचने लगीं कि यदि) पुत्रको (रोक) रखती हूँ और अनुरोध करती हूँ तो धर्म जाता है और भाईसे विरोध होता है॥ ४॥ यदि वन जानेके लिये कहती हूँ तो बड़ी हानि है। (इस प्रकार) रानी सङ्कट और सोचके वश हो गयी॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'धरम सनेह उभय मति घेरी'* इति। धर्म और स्नेह दोनों पुरुष (पुँल्लिङ्ग) हैं, मति स्त्री (स्त्रीलिङ्ग) है। जैसे दो पुरुष स्त्रीको घेर लें, वह निकलने न पावे, वैसे ही धर्म और स्नेहके बीचमें पड़ जानेसे मतिकी दशा हो रही है।

यह बात लोकमें प्रसिद्ध है कि साँप यदि छछूँदरको पकड़ लेता है तो वह न तो उसे निगल ही सके और न उगल ही। यदि निगल जाय तो उसकी मृत्यु हो जाय और उगल दे तो अंधा हो जाय। वैसी ही दशा कौसल्याजीकी है। कौसल्या सर्प, राम छछूँदर, निगलना घरमें रखना, उगलना वनकी आज्ञा देना, धर्मका जाना और अपयशकी प्राप्ति (बन्धु-विरोध) मृत्यु—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* (९५। ७) और, वनकी आज्ञा देकर १४ वर्षतक रोते-रोते बीतना अन्धा होना, आँख फूटना है। अतएव कौसल्याजी निश्चय नहीं कर पातीं कि क्या करें, दोनोंमें आपत्ति देख रही हैं, न रहनेको कह सकें न जानेको। यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है। (श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'साँप छछूँदरको खा ले तो मर जाय, छोड़ दे तो अन्धा हो जाय, अन्तमें साँप उसे खाकर मर जाता है। उसी तरह कौसल्याजीने मृत्युको स्वीकार किया, धर्म नहीं छोड़ा। भाव कि कौसल्याजीके प्राण राजा दशरथजी हैं। यदि राजाकी मृत्यु हुई तो कौसल्याजीकी मृत्यु हो गयी क्योंकि पतिव्रता स्त्रीका ऐसा ही होता है।')

'मानस-मयङ्क'—कौसल्याजीकी बुद्धिमें कोई बात नहीं आती, मानो साँप-छछूँदरकी-सी गति हो गयी। कहते हैं कि जब कभी धोखेसे सर्प छछूँदरको पकड़ लेता है तब वह ज्यों ही उसे छोड़ने लगता है त्यों ही वह मूत्र कर देता है जिससे सर्प अन्धा हो जाता है। अतएव सर्प उसे ले जाकर जलमें छोड़ता है जिससे उसका मूत्र इसे स्पर्श नहीं करता और वह अन्धा होनेसे बच जाता है। कौसल्याजी वनकी आज्ञा दें तो स्नेहमें न्यूनता आती है और घरमें रखें तो धर्म जाय। अतएव उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको कैकेयीरूप जलमें छोड़ दिया अर्थात् सब छरभार कैकेयीके सिर रख दिया और इस प्रकार अपने धर्म और प्रेमकी रक्षा की।

वि० त्रि०—सर्पको सुगंध बहुत प्रिय है। केवड़ाके बागमें उनका प्रायेण निवास रहता है। वे जूही-चमेली और मालतीकी लताओंमें प्रायेण पाये जाते हैं। भूखे होनेसे वे छछूँदरको पकड़ लेते हैं, छछूँदरमें अति दुर्गन्ध है, अतः वह निगली नहीं जाती, भूखकी वेदनासे वह छोड़ी भी नहीं जाती। यही दशा रानी कौसल्याकी हुई। वे स्त्री-धर्मके भयसे रामचन्द्रको रख भी नहीं सकतीं और स्नेहके कारण उन्हें जाने भी नहीं देतीं।

टिप्पणी—२ *'धरम जाइ'*— पुत्रसे माता-पिताकी आज्ञा भङ्ग कराना और अपनी ओरसे पतिकी आज्ञा भङ्ग करना यह धर्मकी हानि है। बन्धु भरतजीसे राज्यके लिये वैर-विरोध होगा जिससे राज्य-सुख भी न मिलेगा—(रा० प्र०) श्रीदशरथजी तथा श्रीकौसल्याजी श्रीरामजी और श्रीभरतजीका स्वभाव जानते हैं जैसा ***'लोभ न रामहिं राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।'*** (३१) ***'कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय।'*** (१६८) ***'मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥'*** (१६९। ४) ***'जानउँ सदा भरत कुल दीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा॥'*** (२८३। ५) इत्यादि उद्धरणोंसे स्पष्ट है। दोनों जानते हैं कि न तो भरतजी श्रीरामराज्याभिषेकमें विरोध करेंगे और न श्रीरामजी भरतराज्याभिषेकमें विरोध करेंगे। वे तो स्वयं ही प्रसन्न हैं कि ***'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥'*** (४२। २) तब ***'बंधु बिरोधू'*** का क्या आशय है? यहाँ श्रीकौसल्याजीके कथनका आशय इतना ही मात्र है कि यदि रामजीको मैं वन जानेसे रोकती हूँ तो कैकेयीजी यही समझेंगी कि भरतके विरुद्ध ये रामको खड़ा कर रही हैं, यद्यपि उनके रोकनेका आशय यह नहीं है। (वे० भू०)]

टिप्पणी—३ ***'कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी।'*** इति। धर्म जाय और लोकसुख जाय यह हानि है और वनको जाना यह बड़ी हानि है।

टिप्पणी—४ ***'संकट सोच बिबस'*** का भाव कि थोड़ी देरतक उन्हें कुछ न समझ पड़ा कि क्या करें। धर्म नष्ट होनेका सङ्कट हुआ और श्रीरामजीके वन जानेका सोच हुआ। ५६ (१-२) भी देखिये।

बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी॥६॥
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी॥७॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयेसु सब धरमक टीका॥८॥

शब्दार्थ—'**तिय धरमु**'=स्त्री-धर्म कि स्त्रीको चाहिये कि सवतके पुत्रको अपने पुत्रके समान समझे। =पातिव्रत्यधर्म। '**सयानी**'=चतुर, बुद्धिमती। '**धरमक**'=धर्मका। '**टीका**'=शिरोमणि, श्रेष्ठ। टीका माथेपर होता है वैसे ही यह सबके ऊपर है।

अर्थ—फिर बुद्धिमती कौसल्याजीने स्त्रीधर्मको समझकर और राम तथा भरत दोनों पुत्रोंको समान जानकर (अर्थात् हमारे पतिके ही दोनों पुत्र हैं, इनमेंसे किसीको न्यून या अधिक न मानना चाहिये) वह सीधे-सादे कपटरहित स्वभाववाली श्रीरामजीकी माता बड़ा धैर्य धारण करके बोलीं॥६-७॥ हे तात! मैं बलिहारी जाती हूँ! तुमने अच्छा किया। पिताकी आज्ञाका (पालन) करना सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है॥८॥

टिप्पणी—१ ***'बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी।''''*** इति। (क) धर्ममें सयानी हैं, अतः उन्होंने

धर्मको ग्रहण किया और पुत्रको वन जानेकी आज्ञा दी। धर्म और स्नेह दोनोंका मतिको घेर लेना कहा था—*'धरम सनेह उभय मति घेरी।'* अब धर्मकी राहसे निकल आयीं। कौसल्याजी साक्षात् **'मति'** अर्थात् बुद्धि ही हैं तो क्यों न निकल पातीं? (**'तिय धरम'** में यह भी भाव है कि पतिकी आज्ञाके अनुकूल चलना सतीका धर्म है।) (ख) *'राम भरत दोउ सुत सम जानी'*—भाव कि रामको रोकनेमें केवल स्वार्थ है और धर्मके रखनेमें परमार्थ और स्वार्थ दोनों हैं। स्वार्थकी जगहमें भरत हैं। राम और भरत दोनोंको समान समझा क्योंकि रामकी माताका स्वभाव सरल है, क्योंकि ये रामकी माता हैं, जैसा श्रीसुमित्रा अम्बाजीने कहा भी है कि *'रावरो सुभाउ राम जन्म ही ते जनियतु है।'* (क० २—४) उत्तम क्षेत्रमें ही उत्तम पदार्थ होता है। रामजीका स्वभाव सरल है, यथा—*'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।'* (१। २३७) तो इनका स्वभाव वैसा क्यों न हो? हुआ ही चाहे। यथा—*'सरल सुभाय माय हिय लाये। अति हित मनहु राम फिरि आये॥''''देखि सुभाउ कहत सब कोई। राम मात अस काहे न होई॥'* (१६५। १—३) *'माता भरतु गोद बैठारे।'* इस उदाहरणमें *'सम जानी'* का प्रमाण भी आ गया। पुनः रामनाम लेनेसे लोग कपट-रहित हो जाते हैं और इन्होंने तो उन्हें खिलाया, लाड़ लड़ाया तो ये क्यों न कपटरहित हों। (रा० प्र०)

टिप्पणी—२ *'धीर धरि भारी'*—रामजीको अपने मुखसे वन जानेको कहना चाहती हैं, 'यह बड़ा' कठिन काम है इसीसे 'बड़ा' धीरज धारण किया। [वनगमनकी बात सुननेपर जब बोलती हैं तब कवि कहते हैं कि *'धरि धीरजु सुत बदन निहारी। गदगद बचन कहति महतारी॥'* (५४। ५) और अब तो वनगमनकी आज्ञा देनेकी इच्छा है, इसीसे **'भारी'** धीरज धरना पड़ा। भारी धीरज धारण किया इसीसे अब वचन गद्गद नहीं हैं। इसीसे जनाया कि स्नेहके वेगपर विवेकने विजय पायी। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका'* इति। **'नीक'** अच्छा, भला काम किया, इसीसे बलिहारी जाती हैं, इसीसे प्रसन्न हैं। क्या 'नीक' किया सो कहती हैं कि *'पितु आयेसु''''''*'। अर्थात् तुमने बड़ा भारी (परम) धर्म धारण किया है। तुम्हारी निछावरके योग्य कोई वस्तु संसारमें नहीं है इसीसे मैं बलि जाती हूँ अर्थात् अपना तन तुमपर न्योछावर करती हूँ।

☞ मानस-कल्पकी कौसल्या और वाल्मी०, अ० रा० की कौसल्यामें धरती और आकाशका बल है। मानसकी कौसल्या धर्मको जानती हैं, वाल्मी० और अ० रा० की कौसल्याको बहुत कुछ धर्मका उपदेश देना पड़ा है। यह प्रसङ्ग-का-प्रसङ्ग उन सबोंसे विलक्षण है।

बैजनाथजी—*'सब धरमक टीका'* इति। सब धर्मोंका तिलक है अर्थात् इसीमें सबके धर्म दर्शित हो जावेंगे—किशोरीजीको देख स्त्रीधर्म, लक्ष्मणको देख सेवकधर्म, राजासे वात्सल्य, बन्धुधर्म भाईका, सखा-धर्म सुग्रीवका, दास्य हनुमान्‌जीका, प्रजाधर्म पुरवासियोंका, विरोधधर्म रावण आदिका देख (सबको शिक्षा होगी)।

दो०—राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो* दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥ ५५॥

शब्दार्थ—'लेसु'=लेशमात्र, जरा-सा भी, थोड़ा भी। **प्रचंड**=अति उत्कट, बहुत बड़ा।

अर्थ—राज्य देनेको कहकर राजाने वन दे दिया, मुझे इसका किंचित् भी दुःख नहीं। पर, तुम्हारे बिना भरतको, राजाको और प्रजाको बहुत बड़ा कष्ट होगा (इस बातका मुझे शोच और दुःख है)॥ ५५॥

टिप्पणी—१ कौसल्यामाता रामजीको घर रखना चाहती हैं, यह बात अगली चौपाईसे स्पष्ट सिद्ध होती है—*'जो केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥'* यदि वे अपने दुःखके बचावके विचारसे उनको वन न जाने दें तो धर्मका सर्वनाश होता है, यथा—*'राखौं सुतहिं करौं अनुरोधू। धरम जाइ अरु*

---

* सो—राजापुर। सोच-रा० प०, काशी।

बंधु बिरोधू॥' परंतु यदि भरतजी, चक्रवर्ती महाराज और प्रजाके क्लेशनिवारणार्थ श्रीरामजीको घर रखें तो उनके पातिव्रत्यको हानि नहीं पहुँच सकती, क्योंकि पतिके प्राण बचानेके लिये ही उनको घर रहनेको कहती हैं, पुनः भाईसे भी विरोध न होगा, उनके लिये ही घर रखती हैं और फिर राजाको नरकसे बचानेके लिये रखती हैं क्योंकि प्रजाके क्लेशसे राजाको नरक होता है, यथा—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'* (७१। ६) अतएव 'इन सबको दुसह क्लेश' कहा।

नोट—१ श्रीरघुनाथजीने वनकी आज्ञा देनेमें केवल पिताका नाम लिया था, यथा—*'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।'* उनके वचनानुसार तो माताने यह कहा कि पिताकी इस आज्ञासे भरत, प्रजा और स्वयं राजा इन सबोंको क्लेश होगा; अर्थात् इस कारण तुम्हारा जाना उचित नहीं। पर मन्त्रीसुतसे कैकेयीद्वारा वनवास होना सूचित हुआ, उनके प्रति आगे कहती हैं। (रा० प्र०) इन शब्दोंमें छिपा हुआ निषेध होनेसे 'व्यक्ताक्षेप अलङ्कार' हुआ।

नोट—२ यहाँ *'भरतहि भूपतिहि प्रजहि'* के क्रमका भाव यह है कि सबसे अधिक क्लेश भरतजीको होगा, उनसे कम राजाको और राजासे कम प्रजाको। श्रीकौसल्या अम्बा भरतजीका स्नेह जानती हैं जैसा उनके *'मोहि भरतकर सोचु।'* (२८२), *'मोरे सोचु भरत कर भारी॥ गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥'* (२८४। ३-४) इन वाक्योंसे स्पष्ट है। फिर इस काण्डके अन्तमें जैसा उनका रहन-सहन १४ वर्षतक रहा है वह पाठकोंने पढ़ा ही है, अवधिके बाद वे एक क्षण जीवित नहीं रह सकते थे। राजाकी मृत्यु हुई; उन्होंने *'सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा॥'''''* कहते हुए शरीरको तृणसमान त्याग दिया; पर जो प्रचण्ड क्लेश भरतजीको श्रीरामजीकी आज्ञा मानकर अवधिभर उठाना पड़ा वह उनको नहीं हुआ। प्रजाको उनसे कम क्लेश हुआ यह तो स्पष्ट ही है।

जौं केवल पितु आयेसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥ १॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥ २॥

अर्थ—हे तात! यदि केवल पिताकी आज्ञा है तो माताको बड़ी जानकर वनको मत जाओ॥ १॥ और यदि पिता-माता दोनोंने वन जानेको कहा हो तो वन सैकड़ों अवधके समान है॥ २॥

टिप्पणी—१ रानीने अपना धर्म बचाकर उपर्युक्त दोहेवाले वचन कहे थे। अब श्रीरामजीके धर्मकी रक्षा करते हुए रहनेको कहती हैं कि जो केवल पिताकी आज्ञा हो तो माताको बड़ी जानकर वन न जाओ, पितासे माता दशगुणा माननीय है (प्रमाण कई बार आ चुका है और आगे दिया भी है।' तात्पर्य कि माताकी आज्ञासे घरमें रहनेसे तुमको दशगुणा धर्म होगा। (*'जौं केवल पितु आयेसु ताता'* यह रामजीके वचनको लेकर कहा और *'जौं पितु मातु कहेउ बन जाना'* यह मन्त्रीपुत्र अभिनन्दनके वाक्यानुसार कहा।) *'जौं केवल''''''माता'* में वाच्यसिद्धाङ्गगुणीभूत व्यङ्ग है।

नोट—*'तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता'* से मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्। त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम्॥**' (वाल्मी० २। २१। २५) तथा '**पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः। पित्राज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम्॥**' (अ० रा० २। ४। १२) अर्थात् जिस गौरवसे तुम्हारे लिये राजा पूज्य हैं उसी गौरवसे मैं भी पूज्य हूँ, तुम्हारी पूज्या होकर मैं आज्ञा नहीं देती, मैं कहती हूँ कि तुम वनको न जाओ। (२५) राम! जैसे पिता तुम्हारे गुरु हैं वैसे ही मैं भी तो उनसे अधिक तुम्हारी गुरु हूँ! यदि पिताने वन जानेको कहा है तो मैं तुम्हें रोकती हूँ। (१२)—किन्तु वाल्मी० और अ० रा० की कौसल्याने इस वाक्यपर हठ किया है और केवल अपने स्वार्थके लिये रोकना चाहा है! और *'जौं पितु मातु कहेउ''''''* वाली बातका तो वहाँ स्पर्श भी बहुत दूर है। मिलान कीजिये—*'रहि चलिये सुंदर रघुनायक। जो सुत तात वचन पालन रत, जननिउ तात! मानिबे लायक।'* (गी० २। ३)

टिप्पणी—२ *'जौं पितु मातु''''समाना'* इति। अर्थात् तुम माता-पिता दोनोंकी आज्ञा पालन कर रहे हो इससे तुमको वनमें सौ अयोध्याका सुख होगा। तुम पुण्य-पुरुष हो और पुण्य-पुरुष *'कहँ महि सुख*

छाई।', *'सत अवध समाना'* कहा क्योंकि पितासे दशगुणा माता मान्य है और मातासे दशगुणा विमाता मान्य है, इस प्रकार पिताके राज्यसे शतगुणा वनका राज्य हुआ, यथा—'**पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते। मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा॥**' (मनु०) ['सत अवधका भाव कि यहाँ एक पिता और संख्यामात्र माताएँ और सेवक हैं और वनके देवी-देवता असंख्यों माता-पिताका-सा लालन-पालन करेंगे। वन बड़भागी हैं, इसलिये सौ अवधके समान है। (वै०)]

पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥ ३॥
अंतहु उचित नृपहिं बनबासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू॥ ४॥
बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी॥ ५॥

शब्दार्थ—'**खग**'=(ख=आकाश+ग=गमन करनेवाला) गगनचारी, पक्षी। '**मृग**' (मृ=वन+ग) वनमें गमन करनेवाले, पशुविशेष। '**बय**' (वय)=अवस्था, उम्र, आयु। '**हरासू**' (ह्रास)=भय, दुःख।

अर्थ—वनके देवता पिताके और वनदेवी माताके समान होंगे अर्थात् वनके देवी-देवता मूर्तिमान् होकर माता-पिताकी तरह तुम्हारी रक्षा करेंगे। पक्षी तुम्हारे चरणकमलोंके सेवक होंगे॥ ३॥ अन्तमें राजाको वनवास करना उचित ही है। तुम्हारी (सुकुमार) अवस्था देखकर चित्तमें दुःख होता है॥ ४॥ वन बड़ा भाग्यवान् है, अवध अभागा है, जिसे रघुकुलश्रेष्ठ तुमने त्याग दिया॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'पितु बनदेव'''''* इति। यथा—*'देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहुँ नयन पलक की नाईं॥'* (५७। १) भाव कि यहाँके माता-पिता छूटे तो वनके देवी-देवता माता-पिता हैं, यहाँके सेवक छूटे तो वनमें खग-मृग आकर तुम्हारी चरण-सेवा करेंगे। खग गीधराज श्रीरामजीके लिये अपना शरीर अर्पण कर देगा और अनन्त कोटि मृग (वानर) सेवामें हाजिर रहेंगे।

टिप्पणी—२ *'अंतहु'*— अर्थात् चौथेपनमें, यथा—*'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥'* (६। ७। ३) अतएव दुःख न होना चाहिये पर *'बय बिलोकि''''''* अर्थात् तुम्हारी तो अभी बाल्यावस्था, प्रथम अवस्था है, इस छोटी अवस्थामें जाते हो इससे दुःख होता है।

नोट—पिता-माता और सेवकोंका धर्म क्रमशः वनके देवता, देवी और खगमृगमें स्थापित करना 'तृतीय निदर्शना' अलङ्कार है। *'बड़भागी बन'*— वनके भाग्यकी प्रशंसा वक्ताओंने भी की है, यथा—*'सो बनु सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन॥ महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू। सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू॥'* (१३९। ३-४), *'बड़भागी बन अवध अभागी'* कहकर यह भी जनाया कि जहाँ तुम जाओगे वह वन अवधके समान सुहावन पावन हो जायगा और जहाँसे तुम जा रहे हो वह अवध वन-समान असुहावन हो जायगा। यथा—*'अवध तहाँ जहँ रामनिवासू।'* (७४। ३) (यह श्रीसुमित्राजीका वाक्य है।), *'लागति अवध भयावनि भारी।'* (८३। ५), *'नगरु सकल बन गहबर भारी। खगमृग बिपुल सकल नर नारी॥'* (८४। २)

जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरें हृदय होइ संदेहू॥ ६॥
पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥ ७॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥ ८॥

अर्थ—हे पुत्र! जो मैं कहूँ कि मुझे साथ ले चलो तो तुम्हारे हृदयमें संदेह होगा॥ ६॥ हे पुत्र! तुम सभीको परम प्यारे हो। प्राणोंके भी प्राण हो और जीवके जीवन हो॥ ७॥ वही तुम मुझसे कहते हो कि माता! मैं वनको जाता हूँ और मैं इन वचनोंको सुनकर बैठी पछताती हूँ॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'तुम्हरे हृदय होइ संदेहू'* इति। माता अपनेको सङ्ग ले जानेको नहीं कहतीं; क्योंकि यदि ऐसा कहें तो श्रीरामजीको संदेह हो—न तो सङ्ग ले जाते ही बने और न आज्ञा भङ्ग करते बने। इसीसे

सङ्ग ले जानेकी आज्ञा नहीं देतीं। पुनः दूसरा संदेह यह होगा कि माताके हृदयमें पातिव्रत्य धर्म नहीं है जो ऐसी दशामें पतिको छोड़नेकी इच्छा करती हैं।

नोट—१ वाल्मीकीय सर्ग २१ और २४ में श्रीरामजीके ये वचन हैं। '**तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने। देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्कथंस्विदन्या विधवेव नारी॥**' (२१। ६१) अर्थात् राजा दशरथ जीते हैं और अपने धर्ममें वर्तमान हैं ऐसी दशामें साधारण विधवा स्त्रीके समान देवी (कौसल्या) मेरे साथ वन कैसे जायँगी। पुनश्च—'**जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्त्ता दैवतं प्रभुरेव च। भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः॥**', '**राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता। व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा॥ भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्। भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्॥ अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्। शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता॥**' (सर्ग २४। २१, २५—२७) अर्थात् जीती हुई स्त्रियोंके लिये उसका पति ही देवता है, स्वामी है।······सावधान होकर बूढ़े राजाके हितकी ओर ध्यान दो, उनके हितके लिये व्रत, उपवास आदि करो, ये ही उत्तम स्त्रियोंके लक्षण हैं, जो स्त्री पतिकी सेवा नहीं करती वह पापिनी है।···देवपूजा भी छोड़कर स्त्रियोंको पतिहितकी कामनासे उनकी सेवा करनी चाहिये। ☞ वाल्मीकिकी कौसल्याने साथ चलनेका हठ किया है। यथा—'**कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति। अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि॥**' (२। २४। ९) अर्थात् जैसे गाय अपने बछड़ेके साथ, जहाँ-जहाँ वह जाता है, जाती है, वैसे ही मैं तुम्हारे साथ चलूँगी जहाँ तुम जाओगे।—यह सुनकर श्रीरामजीको दुःख हुआ और माताको धर्मका उपदेश करते हुए उन्हें कहना पड़ा कि पतिका परित्याग करना स्त्रीके लिये बड़ी क्रूरता है, ऐसी क्रूरताको मनमें सोचना भी निन्दित है।·······यथा—'**भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः। स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः॥**' (२। २४।१२) पर मानसकल्पकी शतरूपा—कौसल्याको अलौकिक विवेक है, वह स्वयं परम पुनीत विचारोंवाली हैं। उपर्युक्त उद्धरणोंसे जो श्रीरामजीके वचन हैं उनका भाव यही है कि जो पतिको छोड़े वह पतिव्रता कैसी? यही भाव '*जौं सुत*······*हृदय होइ संदेहू*' का है।

नोट—२ वि० त्रि०—कौसल्याजी कहती हैं कि यदि मैं तुमसे कहूँ कि मुझे सङ्ग ले लो तो तुम्हारे मनमें सन्देह होगा कि इनको भरतका राज्य नहीं रुचा, तब मुझे सङ्ग लेनेको कहती हैं, यदि भरतका राज्य रुचता तो मेरे सङ्ग चलनेकी आवश्यकता क्या है। अतः इनके अन्तःकरणका दुर्भाव ही कैकेयीके दुर्भावका कारण हुआ। इसके लिये जैसा मैं वैसे भरत, किसीका राज्य हो, इन्हें चक्रवर्तीजीकी सेवा करनी चाहिये।

नोट—३ '*पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के।*', यथा—'*ए प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।*' (१। २१६। ७) '***प्रान प्रान के जीवन जी के***'—ऐसा ही वसिष्ठजीने भी कहा है, यथा-***प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।***' (२९०), '**प्राणस्य प्राणमुत।**' (बृ० ४। ४। १८), '**प्राणस्य प्राणः।**' (केन० १। २), '**येन प्राणः प्रणीयते।**' (विशेष १। २१६। ७) में देखिये। इनसे जनाया कि आप ब्रह्म हैं। '*जीवन जी के*' अर्थात् सब जीव आपके ही आश्रित जीवन धारण करते हैं, यथा—'**एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।**' (बृ० ४।३।३२)

प० प० प्र०—विश्वामित्रजीने '*ये प्रिय सबहि*' कहा था और माता कहती हैं कि '*तुम परमप्रिय सबही के।*' कौसल्याजीके '*सबही*' से भरत, भूपति और अवधवासी प्रजाका ग्रहण है। अवधवासियोंके सम्बन्धमें श्रीमुखवचन है कि '*अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी*', '*अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।*'

नोट—४ '*प्रान प्रानके जीवन जी के।*' प्राण अर्थात् जिससे शरीर चेतन रहता है। '**जीवन**' अर्थात् जिससे प्राण चेतन रहता है। (मुन्शी रोशनलाल) प्राणके प्राण हो अर्थात् प्राणोंकी सत्ता तुम्हींसे है, '***जीवन जी के***' अर्थात् चेतनाके भी चेतना हो, चेतनाशक्तिके आधार हो।—(दीनजी १। २१६। ७) देखिये।

नोट—५ (क) '*ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ*' इति। मिलान कीजिये महर्षि अत्रिके '*केहि बिधि कहउँ जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम्ह अंतरजामी॥*' (३। ६। ९), '*जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथबादी॥ ते तुम्ह राम अकाम पिआरे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥*' (३। ६। ५-६)। इन वचनोंसे। (प० प० प्र०)

नोट—५ (ख) *'मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ'* इति। भाव कि ऐसे वचन सुनकर हृदय विदीर्ण हो जाना चाहिये था। यह भाव श्रीजानकीजीकी *'ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान।.......'* (६७) इस उक्तिसे स्पष्ट है। अर्थात् मैं सुनकर पछतानेके लिये जीती हूँ, बैठी पछताती हूँ कि मैं कैसी माता हूँ कि पुत्र-वियोग सुनकर मेरे प्राण न निकल गये। (पु० रा० कु०)

☞*'राम लषन सिय बनहि सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए॥ यह सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तउ न तजा तनु जीव अभागे॥ मोहि न लाज निज नेह निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी॥ जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥'* (२। १६६) माताके इन वचनोंसे उपर्युक्त वचनोंका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।' वाल्मी० २। ४० में पुरवासियोंने यही बात कही है—**'आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम्। यद्देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते॥'** (२३) अर्थात् रामकी माताकी छाती अवश्य ही लोहेकी है इसीसे देवकुमार-सदृश श्रीरामजीके वनगमनपर वह नहीं फटी।

बाबा हरिदासजी—*'पूत परमप्रिय''''पछिताऊँ'* इति। भाव कि तुम सब जीवोंको परमप्रिय हो। यथा—*'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥'* तुम हमारे पुत्र हुए और वन जानेको कहते हो और मैं सुनकर पछताती हूँ कि मेरे प्राण नहीं निकलते। यह मेरा ही किया हुआ मेरे आगे आया कि मैंने पूर्व ही अलौकिक विवेक माँग लिया था, वही आपने मुझको दिया और राजाको स्नेह दिया।

अलङ्कार—परमप्रिय, प्राणके प्राण, जीवके जीवन यह उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन 'सार अलङ्कार' है। पुनः प्राणके प्राण हो, इससे सिद्ध हुआ कि इसी कारण परमप्रिय हो, यह 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' हुआ। वीरकविजी लिखते हैं कि *'मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ'* से जनाती हैं कि वचन सुनते ही प्राण नहीं निकलते तो झूठी प्रीति दिखाकर अपने प्रेमकी व्यर्थ बातें क्या कहूँ—इसमें 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यङ्ग' है क्योंकि माताके हृदयमें अपार प्रेम है, किन्तु उसे मिथ्या ठहराकर मुकरना 'काकु' है।

दो०—यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ॥ ५६॥

अर्थ—यह विचारकर झूठा स्नेह बढ़ाकर हठ नहीं करती हूँ, मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ, माताका नाता मानकर मेरी सुध न भूल जाय॥ ५६॥

मुं० रोशनलाल—*'मानि मातु कर नात'* इति। भाव कि वनगमन सुनकर प्राण निकल गये, इसीसे स्नेह झूठा है। स्नेह झूठा है, इस कारण तुमसे मेरा माताका नाता भी झूठा है। यद्यपि मेरी ओरसे यह नाता तो झूठा ही है। तथापि तुम जो मेरे साथ माताका नाता माने हुए हो तो तुम उस नाते मेरी सुरति न भुला देना, अपनी ओरसे उस नातेको ध्यानमें रखकर मुझे याद रखना।

पं० यादवशङ्करजी—वाल्मीकिजीकी **'ममास्ति मातृता तात न जह्यात् पुत्रता त्वया'** इस हृदयद्रावक उक्तिका हृदय *'मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ'* इस उक्तिमें बहुत ही मार्मिकतासे उतारा गया है। हमारे विचारसे इस उक्तिसे ध्वनि निकलती है कि रामजीको वन जानेकी आज्ञा दे देनेके कारण कौसल्या देवीके मनमें आया कि—**'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि माता कुमाता न भवति'** इसमेंके मातृहृदयका पूरा नाश उन्होंने ही कर दिया इसमें संदेह नहीं। परन्तु इस बातपर लक्ष्य न करके रामजीको यही विचार करना चाहिये कि उनकी मातामें माताका हृदय बिलकुल ही नहीं है तो भी माताका नाता अटल है। इसलिये उस नातेपर ध्यान देकर उन्हें अपनी माताको न भूलना चाहिये।

प० प० प्र०—*'यह बिचारि'* अर्थात् इस तात्त्विक विचारसे तो मेरा स्नेह मिथ्या ही है। तथापि व्यावहारिक सत्तामें तो मैं माता और तुम मेरे पुत्र हो यह भूल न जाना।

नोट—मिलान कीजिये—*'जिन श्रवनन्हि कल बचन तिहारे सुनि सुनि हौं अनुरागी। तिन्ह श्रवनन्हि बनगमन*

सुनति हौं मो ते कौन अभागी॥ जुग सम निमिष जाहिं रघुनंदन बदन कमल बिनु देखे। जौ तनु रहै बरष बीते बलि कहा प्रीति इहि लेखे॥' (गी० २। ४)

देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहु पलक नयन की नाईं॥ १॥
अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥ २॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहि भेंटहु आई॥ ३॥

अर्थ—देवता, पितर और गुसाईं, भगवान् ये सब अथवा हे गोसाईं! सब देवता, पितर पलक नयनकी तरह तुम्हारी रक्षा करें॥ १॥ (१४ वर्षकी) अवधि जल है। प्रिय और कुटुम्बी मछली हैं। तुम करुणाकी खानि हो और धर्मधुरीण हो॥ २॥ ऐसा विचारकर वही उपाय करो जिससे सबको जीते-जी आ मिलो॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं'''* इति। प्रथम वनके देवी-देवताको कहा कि वे माता-पिताकी तरह रक्षा करें। अब और जो इन्द्रादिक ३३ करोड़ देवता हैं और अर्यमादि पितृदेव हैं वे सब रक्षा करें, यह आशीर्वाद दे रही हैं। *'गोसाईं'* सम्बोधनका भाव कि तुम 'गो' अर्थात् पृथ्वीके स्वामी हो, पृथ्वीकी रक्षा करने जाते हो, यह देवकार्य है, अतएव देव-पितृगण तुम्हारी रक्षा करें। कैसे रक्षा करें कि जैसे पलक नेत्रोंकी रक्षा करता है। *'पलक नयन की नाईं'* का भाव कि शरीरके सब अङ्गोंमेंसे नेत्र सबसे कोमल हैं, सो उनकी रक्षा पलक निरन्तर करते हैं। देखिये दिनमें जागते रहनेपर एक तिनका भी नेत्रपर आने लगता है तो तुरत पलक उसको ढक लेते हैं। तिनकेको भीतर नहीं जाने देते और रातमें जब नेत्र सोते हैं तब पलक उनको मूँद लेते हैं किसीका विश्वास नहीं करते। पुनः, [(ख) *गोसाईं*=हे भूमिके स्वामी! नीचे और ऊपरके पलक मिलकर पुतलीकी रक्षा करते हैं। यहाँ पितृगण नीचेके और देवगण ऊपरके पलक हैं। *'राखहु पलक नयन की नाईं'* का भाव कि तुम सबोंको नेत्रवत् प्यारे हो, अतएव ये नेत्रवत् तुम्हारी रक्षा करें! (मा० म०)]

नोट—१ बैजनाथजी और बाबा हरिहरप्रसादजीके अतिरिक्त प्रायः समस्त टीकाकारोंने *'गोसाईं'* को सम्बोधन माना है। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ *'गोसाईं'* शब्द सम्बोधन नहीं है, कौसल्याम्बाका रामजीको *'गोसाईं'* सम्बोधन उपयुक्त नहीं है। अतः यहाँ गोसाईं शब्दका अर्थ नारायण है। *'राखहु'* क्रियाके जिस भाँति 'देव पिता' शब्द कर्त्ता हैं, उसी भाँति गोसाईं शब्द भी कर्त्ता है। अर्थात् देवता, पितर तथा सबके प्रभु नारायण तुम्हारी पलक नयनकी भाँति रक्षा करें। गोसाईं शब्दका प्रयोग रामचरितमानसमें नारायणके अर्थमें और भी आया है, यथा—*'जौं अहिसेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्ह कहँ दोष न धरहीं॥ भानु कृसानु सर्बरस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥ सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥ समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥'* (१। ७९) यहाँ भी गोसाईं शब्द सम्बोधन मालूम होता है, परन्तु अत्यल्प विचारसे स्पष्ट हो जाता है कि गोसाईं शब्द नारायणके लिये प्रयुक्त है। यहाँ चार समर्थोंका वर्णन करके कहते हैं कि उनको दोष नहीं, उनमें प्रथम वर्णन हरिका है कि वह सर्पशय्यापर शयन करते हैं, उन्हींके लिये पहिले गोसाईं कहकर तब *'रबि पावक सुरसरि की नाईं'* कहते हैं। मुझे भी यही मत विशेष उत्तम जान पड़ता है। वाल्मी० २। २५ के **'येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च। ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः॥'** (४) **'स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः। स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा॥'** (८) **'लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा।'''** (९) **'स्कन्दश्च भगवान्देवः सोमश्च सबृहस्पतिः। सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः॥'** (११) **'ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः। स्तुता मया वने तस्मिन्पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः॥'** (१२)।'''' (पुत्र! देवालयोंमें तुम जिनको प्रणाम करते हो वे देवता महर्षियोंके साथ तुम्हारी रक्षा करें। साध्य, विश्वेदेव, मरुत् और महर्षि, विराट्, ब्रह्मा, पूषन, देव, भग और अर्यमा, इन्द्रप्रभृति लोकपाल तुम्हारा कल्याण करें। भगवान् स्कन्द, बृहस्पतिसहित चन्द्रमा, सप्तर्षि, नारद, जिन सिद्धों, दिक्पालोंकी मैंने स्तुति की है वे वरुण, पवन, समस्त

नक्षत्र, ग्रह, शुक्र, कुबेर तथा यम मेरे द्वारा अर्चित होकर तुम्हारी रक्षा करें। लोकप्रभु ब्रह्मा, जगत्कारण ब्रह्म, ऋषि तथा अन्य नित्य देवता तुम्हारी रक्षा करें। इस उद्धरणका सब भाव *'देव पितर सब.......'* में आ गया।

टिप्पणी—२ *'अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना.....'* इति। जलमें मछली जीती रहती हैं, जल न रहनेपर तड़पकर, फड़फड़ाकर प्राण दे देती हैं, यथा—*'जल बिनु थल कहँ मीच बिनु मीनको'*, वैसे ही १४ वर्षकी अवधिको जलसे और प्रिय परिजनकी मीनसे उपमा देकर सूचित करती हैं कि प्रिय और परिवारके सभी लोग जैसे-तैसे तबतक जीवित रहेंगे जबतक १४ वर्ष समाप्त नहीं होते। जिस दिन यह अवधिरूपी जल चुक गया मीयाद पूरी हो गयी और आप न आ पहुँचे तो उसी दम ये सब फड़फड़ाकर मर जायँगे।

टिप्पणी—३ (क) *'तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना'*— 'धर्मधुरीण' हो, अतएव वन जाओ, पिताकी आज्ञा पालन करो। 'करुणाकर' हो अतएव प्रिय परिजन सबपर करुणा करके लौटकर सबके प्राणोंकी रक्षा करो नहीं तो सब मर जायँगे। (पु० रा० कु०) [पुनः भाव कि धर्मधुरीण हो, प्रिय परिजनके प्राणोंकी रक्षा धर्म है, इस धर्मको न भूल जाइयेगा—(पां०, रा० प्र०)] (ख) *'अस बिचारि'* अर्थात् अवधि जल है, प्रिय परिजन मीनरूप हैं, तुम करुणाकर और धर्मात्मा हो, यह विचारकर *'सोइ करहु उपाई।...'* अर्थात् अवधि न बीत जाय, नहीं तो कोई जीता न बचेगा। [श्रीरघुनाथजीने तो इतना ही कहा था कि *'आइ पाय पुनि देखिहउँ मन जनि करसि मलान।'* (५३) इन वाक्योंमें केवल कौसल्याजीका उल्लेख है। उधर कौसल्याजी भी जानती हैं कि *'नृप कि जिइहि बिनु राम'*, अतः उन्होंने *'सबहि जिअत जेहि भेंटहु आई'* यह विनय की, (यदि वे हाँ कर दें तो राजाकी मृत्यु न होनेका उपाय तो यही है कि राम वनको न जायँ, बस उन्हें रुकना पड़ेगा) किंतु श्रीरामजी तो सर्वज्ञ हैं, वे जानते हैं कि हमारे लौटनेतक राजा जीवित नहीं रहेंगे; अतः उन्होंने माताके इस वाक्यका कोई उत्तर नहीं दिया। (प० प० प्र०)]

जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन* परिजन गाऊँ॥ ४॥
सब कर आजु सुकृतफल बीता। भयेउ कराल कालु बिपरीता॥ ५॥
बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥ ६॥

शब्दार्थ—**'सुखेन'**=सुखपूर्वक, आनन्दसे।=सुखके अयन या घर—(पाँड़ेजी) **'जन'**=स्वजन, प्रजा, देशवासी। **'कराल'**=भयंकर, कठिन।

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम सेवक, परिवार और नगरभरको अनाथ करके सुखपूर्वक वनको जाओ॥ ४॥ आज सबके पुण्योंका फल चुक गया, कठिन काल-कराल और उलटा हो गया॥ ५॥ (इस तरह) बहुत प्रकारसे विलाप करके माता चरणोंमें लपट गयी और अपनेको परम अभागिनी समझा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीने मातासे आज्ञा माँगते हुए कहा था कि *'आयेसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥'* माताने वैसी ही आज्ञा दी। वन जाना धर्म है। धर्मसे सुख होता है, अतः *'जाहु सुखेन'* कहा। (*'जाहु सुखेन'* में वाल्मी० सर्ग २५। ३२—४३ का सब भाव भर दिया है। माताने इस प्रकार मंगल-कामना की है—वृत्रासुरके वधके समय देवताओंद्वारा पूजित इन्द्रको जो मंगल हुआ था, अमृत प्राप्त करनेकी प्रार्थनाके समय गरुड़को उनकी माताने जैसा मंगलका विधान किया था, अमृतके निकलनेके समय अदितिने इन्द्रको जो मंगल दिया था, अतुल तेजवाले वामनको त्रिलोकीको तीन पगसे नापनेके समय जो मंगल हुआ था वे सब मंगल तुम्हें हों।.....मंगलोंसे युक्त होकर तुम वनको जाओ और वहाँ अपने सब मनोरथोंको पूर्ण करके अयोध्यामें लौट आओ।) (ख) *'बलि जाऊँ'*—यहाँ श्रीरामजीके लौटकर आने और जन-परिजन, नगर सबको जीता रखनेके लिये बलि जाती हैं। (ग) *'करि अनाथ जन परिजन गाऊँ'*— अयोध्या रामजीको बहुत प्रिय है, यथा—*'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥ अवध*

* 'पुर परिजन' पाठान्तर है।

सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।' (७। ४) और अवधवासी अति प्रिय हैं, यथा—***'अति प्रिय मोहि यहाँ के बासी।'*** (७। ४। ७) अत एव इन सबोंका अनाथ होना कहा जिसमें जल्द लौट आवें।

दीनजी—***'करि अनाथ'*** इति। श्रीरामजीके वन जानेसे अयोध्या सचमुच ही अनाथ हो गयी थी। क्योंकि राजा दशरथ तो बेहोश (अचेत) पड़े थे, वे राजकाज सँभाल ही नहीं सकते थे। श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी वनको ही चले गये। रहे भावी राजा भरत और शत्रुघ्न; ये लोग ननिहालमें थे। अयोध्याकी देखभाल करनेवाला कोई स्वामी न रह गया था।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—सरकारने मातासे प्रार्थना की थी कि तुम प्रसन्न मनसे आज्ञा दो। तुम्हारे प्रसन्न मनसे आज्ञा देनेसे वन जानेमें मुद मंगल होगा; यथा—***'आयेसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥'*** अर्थात् दबावमें पड़कर यदि आज्ञा दोगी तो उसका फल मङ्गलमय नहीं होगा। अतः माता वनवासके मङ्गलमय होनेके लिये आशीर्वाद देती है—***'देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहु पलक नयन की नाईं॥'*** बिना किसी दबावके आज्ञा देती है ***'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ।'*** पर मुदित मनसे आज्ञा देनेमें असमर्थता प्रकट करती है, कहती है कि तुम्हारे जानेसे जन-परिजन और राष्ट्र अनाथ हो जायगा, अतः मुदित मनसे आज्ञा देना मेरे सामर्थ्यसे बाहर है। यहाँ विषमालङ्कार है।

टिप्पणी—२ ***'सब कर आजु सुकृत फल बीता'*** ...... ' इति। तात्पर्य कि जबतक सुकृत रहा तबतक काल सुन्दर रहा, जब सुकृत नष्ट हो गये, खत्म हो गये, तब कालकराल (तीक्ष्ण) हो गया, अर्थात् भारी दुःख उदय हुआ और विपरीत (उलटा) हो गया अर्थात् सुखके स्थानमें दुःख हो गया, राज्य होते-होते वन हो गया।

नोट—वाल्मी० २। २४ में ***'जाहु सुखेन'*** और ***'भयेउ कराल काल बिपरीता'*** से मिलता हुआ श्लोक यह है—**'विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः। गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो॥'** (३३) अर्थात् काजके आगे किसकी चली है। मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहती। पुत्र! तुम निश्चिन्त होकर जाओ, तुम्हारा कल्याण हो।

टिप्पणी—३ ***'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी'*** ......' इति। विलपि शब्दसे सूचित होता है कि कौसल्याजीने जो कुछ कहा वह सब रोकर कहा। चरणमें लपट जाना, यह बात माधुर्यके विरुद्ध है, ऐश्वर्यमें उचित है और यहाँ ऐश्वर्यका वर्णन नहीं है। समाधान यह है कि यहाँ चरणमें लपटना केवल व्याकुलताके कारण है, इसलिये माधुर्यमें विरुद्ध नहीं। ***'परम अभागिनि आपुहि जानी'***—पूर्व कहा था कि ***'बड़ भागी बन अवध अभागी'*** अर्थात् अयोध्याको अभागी कहा था और उस अवधमें अपनेको 'परम अभागिनी' कहती हैं; अर्थात् अवधभरमें मुझसे बढ़कर अभागिनी कोई दूसरा नहीं, यह जनाया।

श्रीमन्त यादवशङ्कर जामदारजी—कौसल्या-विलापका अन्त गोसाईंजीने ***'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी'*** इस पदसे किया है। ***'चरन लपटानी'*** से ऐसी ध्वनि निकलती है कि कौसल्यादेवीको श्रीरामजीके ईश्वरत्वकी पहिचान थी। हमारे मतसे ऐसा समझनेमें उसके करुणारसकी सरसता बहुत ही घट जाती है। पुत्र-वात्सल्यका भाव सम्पूर्ण भाषणमें ओत-प्रोत है। उसमें ईश्वरकी भावनाकी कहीं जरा भी छटा नहीं। फिर ऐसी ध्वनि निकालकर रसशोष करनेमें क्या अर्थ? ***'ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥'*** इससे कौसल्यादेवीका यह भाव स्पष्ट दिखलायी देता है कि राम-वनगमन सुनते ही मरना भला था, पर वैसा नहीं हुआ। इस कारण खिन्न होकर वे अपने पुत्र-प्रेमसे लज्जित हुईं। उन्होंने सोचा कि उनका यह प्रेम सच्चा पुत्र-प्रेम ही नहीं। केवल इसी भावनासे ***'मानि मातु कर नात बलि'*** आदि उद्गार उन्होंने निकाले और अपनेको ***'परम अभागिनि'*** समझा। इस प्रकार राम-माता होनेके लिये स्वयं सर्वथैव ही अयोग्य समझकर तुरन्त ही समक्ष खड़ी हुई राममूर्तिकी उत्कृष्टता और अपनी निकृष्टताके विचारोंमें डूब गयीं और माँ-बेटेका रिश्ता बिलकुल भूल गयीं। इस स्थितिमें कौसल्यादेवीको कुछ भी भान न रहनेके कारण श्रीरामचन्द्रजीको अपने हृदयसे न लिपटाते हुए वह स्वयं ही उनके चरणोंमें लिपट पड़ीं। अतएव ***'चरन लपटानी'*** ये शब्द नमनार्थक न होकर वे कौसल्यादेवीकी परम पश्चात्तापकी अहैतुक क्रिया दरशाते हैं।

दारुन दुसह दाहु उर ब्यापा। बरनि न जाहिं* बिलाप कलापा॥ ७॥
राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**कलाप**=समूह, ढेर।

अर्थ—भयंकर (कठिन) और न सहे जाने योग्य दाह हृदयमें व्याप्त हो गया। विलाप-समूहका वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ७॥ श्रीरामजीने माताको उठाकर हृदयसे लगाकर कोमल वचन कहकर फिर समझाया॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकु०—(क) *'दुसह दाहु उर ब्यापा'* यह भीतरका हाल कहा और *'बिलाप कलापा'* यह बाहर का हाल कहा। अर्थात् माता भीतर-बाहर दुःखसे परिपूर्ण हो गयीं। (ख) *'बिलाप कलापा'* अर्थात् विलाप बहुत है, इसीसे वर्णन करते नहीं बनता। पुनः, भाव कि श्रीकौसल्याजीके हृदयका विलाप समझकर कविका हृदय दुःखित हो गया, अतएव दुःखके मारे उनसे कहते नहीं बनता।

टिप्पणी—२ *'कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई।'* इति। *'बहुरि'* शब्दसे सूचित किया कि जैसे प्रथम समझाया था वैसे ही पुनः समझाया, यथा—***'बरष चारि दस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान। आइ पाय पुनि देखिहउँ मन जनि करसि मलान॥'*** ऐसा गोसाईंजी लिखते हैं, यह उनकी शैली है और वाल्मीकिजी जो श्लोक प्रथम लिखते हैं वही श्लोक काम पड़नेपर पुनः लिख देते हैं। [समझाया कि तुम हमारा स्वरूप जानती हो, विराट्‌रूप तुमने देखा है। तुम्हें अलौकिक विवेक मिला है तब तुम लौकिक विवेक और स्नेहमें क्यों डूबती हो। ईश्वर जानकर गुप्त स्नेह रखो। (बाबा हरिदासजी)]

''श्रीकौसल्यादेवी''

मा० हं०—इस पात्रका इच्छानुसार परिचय कर लेनेके लिये सारी रामायणमें मुख्य तीन प्रसंग हैं। १—रामवनगमन-प्रसंग, २—दशरथ-निधन-प्रसंग और ३—भरत-कौसल्या-संवाद।

अध्यात्म और वाल्मीकीय दोनों रामायणोंमें भी कौसल्यादेवी अपने मातृत्वका अधिकार स्थापित करके आत्महत्याका भय दिखलाकर श्रीरामजीको पित्राज्ञासे पराङ्मुख करनेका प्रयत्न करती हैं। वाल्मीकीयकी कौसल्यादेवी तो एक कदम आगे ही बढ़ गयी हैं, क्योंकि वह श्रीरामजीको घोर नरकमें डालनेके लिये भी तैयार हो जाती हैं। राममाता समझकर उनका आदर कोई भी करेगा ही, परंतु इन दोनोंमेंसे किसीपर कोई भी प्रेम नहीं कर सकता। हर एकके मुखसे यही उद्‌गार निकलेगा कि इनमेंसे पहिली आत्मघातिनी है तो दूसरी आत्मघातिनी होकर पुत्रको निरय-(नरक-)दायिनी भी है। दूसरोंको तो जाने दीजिये, स्वयं रामजीको भी ऐसा ही मालूम हुआ। यदि उनके मनमें यह कल्पना न आयी होती तो उन्होंने दोनों कौसल्या देवियोंको स्वयं ही शास्त्रीजी बनकर उपदेश करनेका प्रयत्न ही न किया होता। (अध्यात्म रामायण सर्ग ४ श्लोक ४५, ४६, १२ और वाल्मी० स० २४ श्लोक० २५, २६ देखिये) श्रीरामजीका ऐसा उपदेश होनेपर भी अपने पूर्व स्वभावके अनुसार दोनों कब चल बसेंगी इसका कुछ भरोसा न होनेके कारण, लोकशिक्षाकी दृष्टिसे गोसाईंजीको उनसे भय ही मालूम हुआ होगा और इसी कारण उन्होंने अपनी रामायणमें उनमेंसे एक भी कौसल्यादेवी स्वीकृत नहीं की, यह बड़ा ही ठीक हुआ, क्योंकि आगे (पतिके मरते समय) शीघ्र ही देखा जायगा कि दोनों अपने पूर्व स्वभावपर चली गयी हैं।

अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंकी कौसल्यादेवीके सम्बन्धमें गोसाईंजीका मन इस प्रकार कलुषित हो जानेके कारण उन्हें उनके ध्येयके अनुसार स्वतन्त्र कौसल्या निर्माण करनी पड़ी।† कौसल्याकी योजना उन्होंने इस प्रकारसे की कि ***'मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥'***

* राजापुर और रा० प० में यही पाठ है। भागवतदासजीने 'जाइ' पाठ दिया है।

† श्रीरामचरितमानसकी कौसल्याका स्वभाव वाल्मीकीयके कौसल्याके स्वभावसे मेल नहीं खाता, अतः यह मान लेना कि गोस्वामीजीको अपने ध्येयके अनुसार स्वतन्त्र कौसल्या निर्माण करनी पड़ी, बड़ी ही अशुभ धारणा है।

यानी जिसका अलौकिक विवेक कभी भी नष्ट न हो। अर्थात् जो पतिधर्म और पुत्रप्रेमके विरोधका योग्य न्याय करनेवाली हजारों आघात होनेपर भी स्वधर्मसे तिलप्राय भी न हटनेवाली, आपातत: आपत्तिका दूरतक विचार करनेवाली, पुत्रको सङ्कट-समयमें भी पुत्रधर्मपर ही अटल रहनेको सिखलानेवाली, दूसरेको किसी तरहका त्रास न पहुँचाते हुए मातृप्रेमको निभानेवाली और आपत्तियोंके बादल फट पड़नेपर भी धैर्य और विवेकको न छोड़नेवाली कौसल्या ही उन्हें योग्य मालूम हुई। *'जौं सुत कहउँ संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ संदेहू॥'* इस एक चौपाईसे स्पष्ट है कि रामजीको भी जिस माताके पेटसे जन्म लेनेमें धन्यता मालूम हो वैसी ही कौसल्यादेवी गोसाईंजीको अभीष्ट हुईं। इस प्रकार योजना हो जानेपर गोसाईंजीने अपनी कौसल्यादेवीकी प्राण-प्रतिष्ठा *'राम भरत दोउ सुत सम जानी'* इस बीज-मन्त्रसे की और उसके देहका अङ्गन्यास इन मन्त्रोंसे किया—*'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥'* से लेकर *'पितु बनदेव मातु बनदेवी। खगमृग चरन सरोरुह सेवी॥'* तक। तात्पर्य यह है कि लोक-संग्रहके लिये गोसाईंजीको वह कौसल्यादेवी पसन्द हुईं जो रामजीपरके अपने सब हक कैकेयीके चरणोंपर शान्तता और स्वेच्छासे अर्पण कर दे, जो स्वयं भरतजीकी माता और रामजीकी कैकेयी बन जावे। (मानसहंससे उद्धृत)

दो०—समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु पद कमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ॥ ५७॥

अर्थ—उसी समय समाचार सुनकर श्रीसीताजी घबड़ा उठीं और सासके पास जाकर उनके दोनों चरण-कमलोंमें प्रणाम करके सिर नीचा करके बैठ गयीं॥ ५७॥

नोट—१ *'तेहि समय'*=जिस समय विलाप बहुत हुआ, यथा—*'बरनि न जाइ बिलाप कलापा'*, उस समय उसका कारण किसीसे पूछा तब किसी दासीने समाचार कह सुनाया।

नोट—२ *'बंदि'*=पाँयलगी करके, दोनों चरणोंको दोनों हाथोंसे छूकर—यह स्त्रियोंमें प्रणाम करनेकी चाल है, ये दोनों चरणोंको हाथमें अञ्चल पकड़े छूती हैं।

नोट—३ विपत्तिमें मर्यादा नहीं रहती इससे पतिके सामने सासके पास आना लिखा। हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यहाँ *'पद कमल जुग'* को और *'बंदि'* को भिन्न-भिन्न चरणोंमें दिया, एक ही चरणमें न रखा, इसका भाव यह है कि इन चरणोंसे उन्हें पृथक् होना पड़ेगा।

दीन्हि असीस सासु मृदु बानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी॥ १॥
बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूपरासि पति प्रेम पुनीता॥ २॥

शब्दार्थ—**सुकुमारि**=कोमल, नाजुक। **रूपरासि**=रूपवती, बहुत रूपवाली।

अर्थ—सासने कोमल वाणीसे आशीर्वाद दिया। श्रीसीताजीको अति सुकुमार देखकर वे घबड़ा गयीं। (कारण कि चेष्टासे जान गयीं कि ये साथ जरूर जायँगी, पर अत्यन्त सुकुमारी हैं, वनके क्लेश कैसे सह सकेंगी)॥ १॥ रूपकी राशि और पतिके प्रेममें पवित्र श्रीसीताजी मुँह झुकाये बैठी सोचती हैं॥ २॥

श्रीरामचरितमानस किस्सा-कहानी नहीं है कि उसके पात्रके स्वभावका कोई निर्माण करे। वाल्मीकिजी परम समाधिमें स्थित होकर, योगदृष्टिसे सब घटनाओंका साक्षात्कार करके तब लिखने बैठे। उनका लिखा अक्षरश: सत्य है। श्रीगोस्वामीजीने जो अपने गुरुजीसे सुना, उसीको भाषाबद्ध किया, वह भी अक्षरश: सत्य है। किसीने कोई नयी कौसल्या निर्माण नहीं की, बल्कि तत्-तत् कल्पकी कौसल्याका विधि-निर्मित स्वभाव ही वैसा था। वाल्मीकीयमें श्वेतवाराह कल्पके रामावतारकी कथा है और रामचरितमानसमें कम-से-कम २७ कल्पोंके पहिलेके रामावतारोंकी कथा है, यथा—*'मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाखा॥'* तथा *'इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कल्प सात अरु बीसा॥'* अत: स्वभावोंमें भेद न पड़ना ही आश्चर्य है। (वि० त्रि०) मैं भी त्रिपाठीजीसे सहमत हूँ।

प० प० प्र०—*'अति सुकुमारि'* इति। माताने आगे ऐसा ही कहा है, यथा—*'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी॥'* (५८। ८) इन वाक्योंको दशरथजीके *'सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।'* (८१) इस वाक्यसे मिलान करनेसे ज्ञात होता है कि दशरथजी महाराज श्रीरामलक्ष्मणजीको श्रीसीताजीकी अपेक्षा अधिक कोमल मानते हैं और माताजी श्रीसीताजीको अधिक कोमल मानती हैं। यह वास्तववाद और माधुर्य प्रेमभावजनित भेद है। श्रीकौसल्याजी वास्तववादिनी हैं और श्रीदशरथजी माधुर्यप्रेमभावमें रँगे हैं। यह भेद तो राजा, रानी दोनोंकी (मनु-शतरूपा शरीररूपमें) वरयाचनामें ही प्रस्तुत है। बीजके अनुसार वृक्ष हुआ ही चाहे।

नोट—१ सिर नीचा किये सोचती हैं, यह सोचकी मुद्रा है। पूर्व जो कहा कि *'बंदि बैठि सिरु नाइ'* उससे आगेके प्रसङ्गको *'बैठि नमित मुख·····'* कहकर मिलाया।

नोट—२ *'रूपरासि'* से बाहरकी और *'पति प्रेम पुनीता'* से भीतरकी शोभा कही। *'रूपरासि'* से तनको और *'पति प्रेम पुनीता'* से प्राणको सुकृती (अर्थात् दोनोंको सुकृती) सूचित किया। 'दोनों' सङ्ग जायेंगे यह वक्ता सूचित कर रहे हैं और जानकीजीका विचार आगे है। बैजनाथजी लिखते हैं कि भाव यह है कि यद्यपि रूपराशि हैं अर्थात् सहज ही पतिकी दृष्टि आकर्षित करनेवाली शोभा तनमें है, तथा पतिमें उनका पवित्र प्रेम है अर्थात् वे पतिव्रता हैं अपनी सेवासे प्राणपतिको स्वाधीन किये हुए हैं तथापि समय जानकर शोचमें पड़ गयी हैं।

चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥ ३॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना॥ ४॥

शब्दार्थ—**सन**=अवधी भाषामें यह करण कारकका चिह्न है=से।

अर्थ—जीवन-नाथ वनको चलना ही चाहते हैं। किस सुकृतीसे उनका साथ होगा*॥ ३॥ तन और प्राण दोनों (सुकृती साथ होंगे) या केवल प्राण-(सुकृती-)से ही साथ होगा? विधिकी गति कुछ जानी नहीं जाती॥ ४॥

नोट—१ **'जीवननाथू'** अर्थात् मेरा जीवन पतिके अधीन है, साथ रखें तो जीती रहूँगी, नहीं तो नहीं। 'जीवन' के स्वामी मेरे पति ही हैं।

नोट—२ *'केहि सुकृती सन'* अर्थात् तन और प्राण दोनों सुकृती हैं, इनमेंसे किस सुकृतीके सङ्ग पतिके साथ जाऊँगी, अर्थात् किस सुकृतीको उनका साथ होगा। तन और प्राण दोनोंको या प्राणहीका। —(पाँड़ेजी) भाव यह कि यदि प्राणनाथ मुझे साथ ले चलें तब तो हमारे प्राण और तन दोनों ही सुकृती हैं और यदि साथ न ले गये तो केवल प्राणहीको सुकृती समझूँगी। तात्पर्य यह कि पतिके बिना मैं प्राण कदापि नहीं रखूँगी, शरीरको छोड़कर (मरकर) प्राणोंसे ही उनका साथ करूँगी, प्राण उनके साथ कर दूँगी, जैसा कौसल्या अम्बाने कहा है—*'गइउँ न संग न प्रान पठाए।'* (१६६। ५) (पु० रा० कु०) इस प्रकार यहाँ 'विकल्प अलङ्कार' है, प्राणका तो साथ जाना निश्चय ही है और यदि यों अर्थ लें कि विधि-गति नहीं जानी जाती कि क्या होगा, प्राण जायेंगे या तन-प्राण दोनों? तो 'संदेह' अलङ्कार होगा।

नोट—३ *'बिधि करतबु कछु जाइ न जाना।'* इति। तन सुकृती है या प्राण ही सुकृती है। किससे संयोग होगा, किससे वियोग होगा, यह सब विधिका कर्त्तव्य है। *'जाइ न जाना'* क्योंकि कर्मका फल ब्रह्मा देते हैं और कर्मकी गति कठिन है, विधाता ही जानते हैं, दूसरा नहीं; यथा—*'कठिन करम गति जान बिधाता।'* (२८२। ४)

* अर्थान्तर—हमारे किस पुण्यसे उनके साथ हमारा जाना होगा। कौन ऐसा सुकृत है जिसके उदयसे इस असमयमें हमें सहायता मिले। (वै०, रा० प्र०)

चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी॥ ५॥
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहि सीयपद जनि परिहरहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**लेखति**=कुरेदकर चिह्न बनाती हैं, लिखती हैं। **धरनी**=पृथ्वी। **नूपुर**=पाद-भूषण, पाजेब, घुँघरू। **मुखर**=शब्द।

अर्थ—अपने सुन्दर चरणोंके नखों-(नाखून) से पृथ्वीको कुरेद रही हैं। उस समय नूपुरोंमें जो मधुर शब्द हो रहा है, कवि उसे यों वर्णन करते हैं कि मानो नूपुर प्रेमके वश (श्रीरामचन्द्रजीसे) विनय करते हैं कि श्रीसीताजीके चरण हमारा त्याग न करें॥ ५-६॥

नोट—१ नखसे पृथ्वी कुरेदना, उसपर चिह्न बनाना, यह सोचकी एक मुद्रा है। सोचमें बैठे हुए मनुष्य सहज ही ऐसा करने लगते हैं और स्त्रियोंमें विशेषरूपसे यह स्वभाव पाया जाता है। यथा—'***पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥ सब सियराम-प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु बेस बिसूरति॥***' (२८१। ६-७) (मा० सं०) पुनः, '***लेखति धरनी***' का भाव कि संकट पड़नेपर माताका आश्रय लिया जाता है। ये अवनिकुमारी हैं, पृथ्वीमाताको अपना संकट सुनाना चाहती हैं, पर सास और पतिके संकोचसे बोल नहीं सकतीं, अतः लिखकर जनाती हैं अथवा राघवजीसे जनाती हैं कि सङ्ग न लोगे तो मैं इसीमें प्रवेश कर जाऊँगी। मातासे कहती हैं कि यदि रघुनाथजी सङ्ग न ले जायँ तो आप ही हमें ग्रहण करें। (वै०, रा० प्र०)

नोट—२ '***हमहि सीयपद जनि परिहरहीं***'—भाव कि आप श्रीसीताजीको साथ ले चलें, जिसमें वे हमें चरणोंमें रखे रहें, क्योंकि साथ न लेनेसे आपके विरहमें वे हमको चरणोंसे निकालकर फेंक देंगी।*

नोट—३ वे० भू० जी कहते हैं कि—'नूपुर सीयपदसे विनती करते हैं कि 'हे सीयपद! आप हमें न त्यागें।' क्योंकि '**अमी पुरस्याः सकलाः सुनिद्रिता न नूपुरं मुञ्च सुखेन यास्यसि। यदि त्यजेः श्रीपदपङ्कजाश्रितं सीते तवाख्यातिरियं भविष्यति॥**'

मंजु बिलोचन मोचति बारी। बोली देखि राम महतारी॥ ७॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु ससुर परिजनहि पिआरी॥ ८॥

अर्थ—सुन्दर दोनों नेत्रोंसे जल बहा रही हैं। यह देखकर श्रीरामजीकी माता बोलीं कि हे तात! सुनो, सीता अत्यन्त सुकुमारी हैं, सास-ससुर और कुटुम्बी सभीको प्यारी हैं॥ ७-८॥

टिप्पणी—(क) '***मंजु बिलोचन***' का भाव कि श्रीजानकीजीको रूपराशि कह आये हैं '***रूपरासि पति प्रेम पुनीता***' इसीसे प्रसङ्गतः सब अङ्गोंकी शोभा कहते हैं। यहाँ '***मंजु बिलोचन मोचति बारी***' में नेत्रोंकी शोभा कही। आगे '***चंद्रबदनि दुख कानन भारी***' में मुखकी शोभा कही। '***चारु चरन नख लेखति धरनी***' में चरणोंकी शोभा कही। पुनः, पति-वियोगके भयसे नेत्र जल छोड़ते हैं इससे नेत्रोंको मञ्जु कहा; संग चलनेके लिये नखोंसे पृथ्वी लिखती हैं इससे चरणोंकी शोभा 'चारु' विशेषण देकर कही, और नूपुर रामजीसे विनय करते हैं इसीसे उनके मुखर (शब्द) को मधुर कहते हैं। (बैजनाथजीका मत है कि वसिष्ठजी संयमकी आज्ञा दे गये थे, अतः कलसे संयमसे रहनेके कारण नेत्रोंमें अञ्जन-सुरमा आदि नहीं हैं और वियोग-भयसे इस समय करुणा आ गयी, इसीसे नेत्र मञ्जु अर्थात् उज्ज्वल हैं। नेत्रोंसे अश्रु गिर रहे हैं, यह करुण चेष्टा देखकर श्रीकौसल्याजी बोलीं।) (ख)—'***अति सुकुमारि देखि अकुलानी***' इस चरणपर प्रसङ्ग छोड़ा था, अब वहींसे फिर प्रसङ्ग उठाते हैं—'***तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।***'

---

*अलङ्कार—यहाँ 'असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा' है। अफलको फल माननेकी उत्प्रेक्षा करना फलोत्प्रेक्षा है; जब इसका आधार असम्भव होता है तब इसे 'असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा' कहते हैं; इसमें क्रियासे फलकी इच्छा प्रकट होती है। नूपुर जड़ हैं उनमें प्रार्थना और यह कि साथ न छूटे अर्थात् साथ रहनेकी इच्छाका होना असिद्ध (असम्भव) आधार है।

वै०, रा० प्र०—*'राम महतारी'* अर्थात् राम परम धीर हैं तो उनकी माँ क्यों न धीर हों। *'अति सुकुमारी'* अर्थात् तुमसे भी सुकुमार हैं।

वि० त्रि०—जिस समय रामजी मातासे विदा माँग रहे थे, ठीक उसी समय सीताजीका अपने महलसे वहाँ चली आने, और सोचकी मुद्रासे बैठकर आँसू बहानेका अर्थ ही यह है कि मैं भी साथ जाऊँगी, मुझे भी आज्ञा मिले, कौसल्याजीने तुरन्त बात समझ ली। इसके इस समय यहाँ आनेका मतलब दूसरा हो नहीं सकता। अपने धर्मपर खड़ी है, इसे मैं कैसे रोकूँ, और यह अति सुकुमार है, कथमपि वन जाने योग्य नहीं है, रामचन्द्र इसके पति हैं, ये ही यदि चाहें तो इसे रोक सकते हैं, अत: सीताजीसे कुछ न कह रामजीसे बोलीं। जो सीताजीसे कहना था—वही सीताजीको सुनाकर रामजीसे ही कहा।

दो०—पिता जनक भूपालमनि ससुर भानुकुलभानु।
पति रबि-कुल कैरव-बिपिन बिधु गुन रूप निधानु॥ ५८॥

अर्थ—इनके पिता राजशिरोमणि (राजाओंमें श्रेष्ठ) श्रीजनकजी हैं, ससुर सूर्यकुलके सूर्य (दशरथ महाराज) हैं और पति सूर्यकुलरूपी कुमुदवनके लिये चन्द्र (के समान प्रफुल्लित करनेवाले) और गुण और रूपके समुद्र हैं॥ ५८॥*

टिप्पणी—१ *'भूपालमनि'* यथा—*'पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृपमनिमुकुट मिलत पद पीठा॥'* (९८। १) पिताको 'भानुकुलका भानु' कहा, यदि रामजीको भी वही कहें तो पिता-पुत्रकी बराबरी होती है। अतएव पिताको सूर्य और पुत्रको चन्द्र कहा। भानुका अंश चन्द्रमा है, पिताका अंश पुत्र है। 'गुणनिधान' का भाव कि चन्द्रमा अवगुणका निधान है, यथा—*'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही'*, रामजीमें अवगुण नहीं हैं। 'रूपनिधान'—भाव कि चन्द्रमाके छई रोग है। रोगीका रूप मलिन रहता है पर रामजी रूपके निधान हैं।

टिप्पणी—२ रा० प्र०—*'पति रबि-कुल कैरव-बिपिन'* और *'बिधु'* को दोहेके भिन्न-भिन्न चरणमें देकर जनाया कि विधु (रामजी) कैरव-वन (रघुकुल) से जुदा होते हैं।

नोट—चन्द्रमाके उदय होनेसे कुमुदिनी खिल उठती है वैसे ही रघुवंशी आपको देखकर प्रफुल्लित—आनन्दित होते हैं।

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूपरासि गुन सील सुहाई॥ १॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥ २॥

अर्थ—फिर मैंने रूपवती, सुन्दर गुण और शील-स्वभाववाली प्यारी बहू पायी॥ १॥ मैंने जानकीको नेत्रोंकी पुतली बनाकर इससे प्रेम बढ़ाया और अपना प्राण उनमें लगा रखा है॥ २॥ (वा, प्राणोंके साथ लगाकर जानकीको रखती थी—पंजाबीजी।)

टिप्पणी—१ (क) *'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई'* अर्थात् ऐसी पुत्रवधू और किसीको प्राप्त नहीं हो सकती। बिना गुण और शीलके रूपकी शोभा नहीं होती, और श्रीजानकीजीमें रूपकी शोभाके साथ-ही-साथ गुण और शीलकी भी शोभा है। बहुत वस्तु सिमिटकर एकत्र होनेपर 'राशि' कहलाती है, वैसे ही तीनों लोकोंका रूप सिमिटकर यहाँ एक राशि (ढेर, समूह) हो गया है। (देखिये, राक्षसी शूर्पणखा भी कह रही है—*'तिन्हके सँग नारि एक स्यामा॥'*, *'रूपरासि बिधि नारि सँवारी।'* (३। २२। ८-९) (ख) *'पुनि'* गहोरा देशकी बोली है, इसका कुछ अर्थ नहीं लिया जाता। यथा—*'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी'*, *'मैं पुनि गयउँ बंधु संग लागा'* तथा यहाँ *'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।'* अर्थात् *मैं पुनि*=मैं। (हमने पूर्व-प्रसंगसे मिलाकर 'पुनि' का अर्थ 'फिर' किया है।)

टिप्पणी—२ (क) *'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।·····'* इति। नयनकी पुतली बनाया अर्थात् मुझे जानकी

* सीताजीका उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन 'सार अलङ्कार' है। उत्तरार्द्धमें परम्परित रूपक है।

अत्यन्त प्रिय हैं, अत्यन्त प्रियको लोग नेत्रकी पुतली-सरीखी रखते हैं, यथा—*'जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करौं तोहि चषपूतरि आली॥'* (२३। ३), *'जौं माँगा पाइय बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥'* (१२२। ५) और पति दशरथजी महाराजकी आज्ञा भी यही थी कि *'बधू लरिकनी पर घर आईं। राखेहु नयन पलककी नाईं॥'* (१। ३५४) अतएव कौसल्याजी जानकीजीको 'नयनकी पुतलीके समान रखती हैं।' (ख)—*'प्रीति बढ़ाई'* से सूचित किया कि इनमें मेरी प्रीति नित्य नवीन बढ़ती जाती है। *'राखेउँ प्रान जानकिहि लाई'* इति। भाव कि इनको तन-मन-प्राणसे सेती रही हूँ। *'नयन-पुतरि करि'* यह तनसे सेवन है, *'प्रीति बढ़ाई'* यह मनसे सेवन है और *'राखेउँ प्रान जानकिहि लाई'* यह प्राणसे सेवन हुआ। [पुनः, *'राखेउँ प्रान'*' से जनाया कि इनके वियोगसे मुझे प्राण निकलनेके समान कष्ट होगा। इस युक्तिसे रोकना चाहती हैं। (वै०)]

पंजाबीजी—*'मैं पुनि पुत्रबधू'* इति—भाव कि मैं बड़भागिनी हूँ कि ऐसी पुत्रबधू पाई जो केवल पिता आदिकी ओरसे ही श्रेष्ठ नहीं, किंतु आप भी रूपगुणशीलका समुदाय है। इन गुणोंवाला अहङ्कारी होता है, सो दोष इसमें नहीं, यह सुशील है, परम सुन्दर स्वभावयुक्त है।

कलपबेलि जिमि बहु बिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥ ३॥
फूलत फलत भएउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा॥ ४॥

शब्दार्थ—**कलपबेलि**=कल्पलता। **लाली**=लालन-पालन किया, प्यारसे पाला। **प्रतिपाली**=प्रतिपालन किया; पाला, रक्षा की। **परिनाम** (परिणाम)=परिपक्व फल, अंजाम, अन्त।

अर्थ—कल्पलताकी तरह मैंने (श्रीसीताजीका) बहुत तरहसे लालन-पालन किया और प्रेमरूपी जलसे सींचकर इसका प्रतिपालन किया॥ ३॥ फूलते-फलते समय विधाता वाम (उल्टे, टेढ़े) हो गये, जाना नहीं जाता कि क्या परिणाम होगा॥ ४॥

नोट—१ बेलि स्त्रीलिंग है। श्रीजानकीजीकी उपमा है इससे कल्पबेलि कहा। श्रीजानकीजी ब्याह कर आयीं तब छःवर्षकी थीं इसीसे माता कहती हैं कि मैंने पालन किया। *'बहु बिधि'* अर्थात् तनसे, मनसे, प्राणसे, स्नेहसे। *'कलपबेलि'*' में उदाहरण अलङ्कार और परम्परित रूपक है।

नोट—२ वि० त्रि०—कौसल्याजी कहती हैं कि इस (सीताजी) को मैकेमें भी, श्वशुरालयमें भी सुख-ही-सुख रहा, जन्मसे ही विधाता इसके अनुकूल थे, जब फूलने-फलनेका समय आया तब विधाता प्रतिकूल हो गये। रामचन्द्रको वनवास हो गया। अयोध्या अनाथ हो रही है, इस समय यह भी चली तो होनहार क्या है कुछ समझमें नहीं आता। विपत्तिका अन्त यहींतक नहीं है। तुम्हारे चले जानेपर, और इसके भी साथ जानेपर, क्या-क्या दुर्घटनाएँ होंगी, उनके इयत्ताका अन्दाज लगाना कठिन है।

नोट—३ *'फूलत फलत भयउ बिधि बामा।'* इति। (क) इससे जान पड़ता है कि विवाहके बाद बहुत दिन अवधमें रहीं। विवाहमें छः वर्षकी थीं, अब १८ वर्षकी हैं। इस प्रकार १२ वर्ष यहाँ रहीं। *'फूलत फलत'* अर्थात् अब लवकुशरूपी फूल-फल लगते। पुत्र होना फूलना-फलना है। वनवास होना विधिकी प्रतिकूलता है। समझमें नहीं आता कि क्या परिणाम होगा, वनमें यह जीती रहे या न रहे—(पु० रा० कु०) पुनः, (ख)—*'फूलत फलत'* अर्थात् राज्यसुख भोग करती, रानी बनती, सन्तान होती। (पंजाबीजी) (मेरी समझमें सन्तानका इस अवस्थामें उस समय होना फलका लगना नहीं है। *'फलति बिलोकि मनोरथ बेली।'* (२। १। ७) में देखिये। (ग) *'काह परिनामा'* अर्थात् अब यह सुख देखनेको मिले या न मिले कौन जानता है। (वै०) पुनः *'काह परिनामा'* =किस कर्मका फल है। (पंजाबीजी) इसमें संदेहालङ्कार है।

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥ ५॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीपबाति नहिं टारन कहऊँ॥ ६॥

शब्दार्थ—**'पलँग पीठ'**=पलँग और सिंहासन; पलँगका आसन जैसे चरण-पीठ=चरणका आसन=खड़ाऊँ। **'पीठमासनमिति'**=(अमरकोष) अर्थात् पीठ आसनको कहते हैं। यहाँ कोमल आसन अभिप्रेत है। पीढ़ा कोमल आसन नहीं कहा जा सकता। कोमल शय्या। जोगवना—१। ३५२। ७ देखो।

अर्थ—श्रीसीताजीने पलँग, कोमल आसन, गोद और हिंडोला छोड़ कभी कठोर पृथ्वीपर पैर नहीं रखा॥ ५॥ जीवनमूरिकी तरह मैं उनकी रक्षा करती रहती हूँ। दीपककी बत्तीतक टारने (घटाने, बढ़ाने, उसकाने) को नहीं कहती॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा'*** इति। अर्थात् पलँगसे उतरीं तो सिंहासनपर बैठीं, उसे छोड़ा तो गोदमें रहीं, गोदसे उतरतीं तो हिंडोलेमें झूलती हैं। तात्पर्य यह कि जब अनेक गुलगुले बिछौने बिछें, अनेक पाँवड़ें पड़ें, तब कहीं, उसपर पैर रखती हैं। ['पुनः ***'पलँग''''हिंडोरे'*** का भाव कि बाल्यावस्थामें माता आदिकी गोदमें रहीं अथवा हिंडोलेमें रहीं, जब सयानी हुई तब गोद और हिंडोला छूटा। तबसे पलँगकी कोमल शय्यापर रहीं। (वै०)] कथनका आशय कि जो पलँगपर सोती रही हैं वे पृथ्वीपर क्योंकर सोवेंगी? जो सिंहासन, गोद और हिंडोलेपर बैठती रहीं वे कठोर पृथ्वीपर कैसे बैठेंगी? जिसने कठोर पृथ्वीपर पैर नहीं दिया वह उसपर कैसे चलेंगी?

टिप्पणी—२ ***'जियनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ'***—पहले कल्पलताकी उपमा दी, अब संजीवनी बूटीकी। भाव यह कि मेरे मनोरथ पूरे करनेके लिये ये कल्पबेलिके समान हैं और मुझे जीवित रखनेके लिये संजीवनीके समान हैं।

टिप्पणी—३ ***'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ'*** अर्थात् इतना हलका काम करनेको भी न कहा कि इसको परिश्रम होगा।

नोट—मानस-मयङ्ककार और मुं० रोशनलाल लिखते हैं कि 'शम्बरासुर अयोध्यामें पत्थरकी वर्षा कर उपद्रव मचाये रहता था। नारद, वसिष्ठ आदि महर्षियोंने विचारकर कहा कि इसके शमनके लिये यज्ञ किया जाय, पर उस यज्ञकी पूर्ति तभी होगी जब श्रीसीताजी अपने हाथसे उस यज्ञके दीपककी बत्ती उसकावें। इतना उत्पात हो रहा था, प्रजाको दुःख था, तब भी कौसल्याजीने यह अङ्गीकार न किया कि श्रीजानकीजीको इतना भी कष्ट दिया जाय। गणपति उपाध्यायजी कहते हैं—***'पाहन वर्षा देखि कै कहि नारद बहु भाँति। दीपशिखा सिय टारहीं होइ बिघ्न तब शान्त॥'*** इस कथाका अवलम्ब इससे लेते हैं कि राजमहलमें तो मणि दीपकका काम करते थे, वहाँ बत्तीका काम ही न था तब बत्ती टालना कैसे बने?

श्रीनंगेपरमहंसजी भी सुनी कथा कहते हैं। वे लिखते हैं कि किसी पुराणमें कहा है कि एक दैत्य श्रीअवधमें आ-आकर उपद्रव करता रहता था। उसकी मृत्यु इस प्रकार थी कि मिट्टीके घड़ेमें छिद्र करके उसमें दीपक जलाकर यदि श्रीजानकीजी उस दैत्यको दिखा दें तो उसकी मृत्यु हो जाय, पर कौसल्याजी इस विचारसे कि सीताजीको कष्ट होगा, यह कार्य उनको नहीं करने देती थीं। राजा दैत्यके कारण बड़े दुःखी थे। जब राजाको यह बात मालूम हुई तब उन्होंने कौसल्याजीसे कहा कि जानकीसे यह काम करा दो। ऐसा किया गया, जानकीजीने उसे ज्यों ही बत्ती दिखायी, उसकी मृत्यु हो गयी। (कथा किस पुराणमें है पता नहीं। पर यहाँ बत्तीके उसकानेकी बात कविने लिखी है और इस कथामें बत्ती जलाकर दैत्यको दिखानेकी बात है।)

☞ श्रीअयोध्याजीमें तो ***'गृह गृह प्रति मनिदीप बिराजहिं।'*** (७। २७। ८) तब दीपककी बत्ती टालनेकी बात कैसे कही गयी? इसीके निर्वाहके लिये शम्बरासुर आदिकी कथाएँ कही जाती हैं जो ऊपर दी गयीं। अ० दी० च० कारने प्रमाणमें **'वर्त्तिका दीपमध्ये तु लुप्ता मर्त्या तत्क्षणः। मर्त्या निर्विघ्नता चैव परास्तं प्रति एव च॥'** इति (भास्करः) यह श्लोक दिया है।

वै० भू० जी लिखते हैं कि धर्मशास्त्रके आज्ञानुसार नित्य तथा विशेष कुछ अवसरोंपर, जैसे कि देवपूजन, अनुष्ठान, दीपमालिकापर, दीपक जलाना आवश्यक है। धार्मिक कृत्योंमें घृत-तैलादिके ही दीपकोंसे

काम लिया जाता है। वैदिक धर्मशास्त्रमें नित्य सायंकालमें दीपक जलाना गृहस्थाश्रमिकोंका कर्तव्य बताया गया है। दीप-निर्वापण कार्य कुलदेवियोंको ही करना चाहिये। पुरुषोंके दीपनिर्वापणमें दोष बताया गया है, यथा—'**दीपनिर्वापणात्पुंसः कूष्माण्डछेदनात् स्त्रियः। अचिरेणैव कालेन वंशनाशो भवेद् ध्रुवम्॥**' (यजुर्वेदीय आह्निकसूत्रावली अह्न अष्टम भाग दीपप्रकरण।) इस शास्त्राज्ञाके अनुसार प्रकाशार्थ नहीं अपितु स्वगार्हस्थ-धर्मपालनार्थ राजसदनमें दीपक नित्य जलाया जाता था। उसका निर्वापण करनेको कभी कौसल्याजीने जानकीजीसे नहीं कहा। निर्वापणकी विधि यही है कि बत्तीको खिसकाकर तेलमें डुबा दे, इससे बुझानेपर दुर्गन्ध भी नहीं होती—इसके अनुसार ऊपरसे किसी कथाकी आवश्यकता ही नही रह जाती।

सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥ ७॥
चंदकिरन रस रसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी॥ ८॥

अर्थ—वही सीताजी अब तुम्हारे साथ वनको चलना चाहती हैं। हे रघुनाथ! क्या आज्ञा होती है?॥ ७॥ चन्द्रमाकी किरणोंके रस (अमृत) की चाहनेवाली एवं प्रेम-चकोरी (भला) सूर्यके सामने नेत्र कैसे मिला सकती है? अर्थात् जो सदा भारी राज्य-सुख भोग कर रही है वह वनका भारी दुःख क्योंकर सह सकेगी॥ ८॥

नोट—१ *'सोइ सिय'* अर्थात् जो ऐसी सुकुमारी और लाड़-दुलार-नाजमें पली हुई हैं। सुकुमारता दिखाकर आज्ञा माँगनेका आशय यह है कि हमारी रुचि है कि श्रीजानकीजी घरमें रहें। *'आयसु काह'*—श्रीरघुनाथजीसे इनके बारेमें इस प्रकार कहनेका भाव यह है कि यदि वे यह कह दें कि इनको घर रहनेकी आज्ञा दो तो श्रीजानकीजीको घर रहना पड़े, उनको बड़ा धर्म-सङ्कट पड़े; इसीसे माताने श्रीरामजीको ऐसी आज्ञा देनेके लिये न कहकर इनके साथ जाने-न-जानेकी बात उनकी ही रुचि और आज्ञापर छोड़ दी।

नोट—२ प० प० प्र०—(क) श्रीकौसल्याजीने माता होनेपर भी 'क्या इच्छा है?' इस प्रकार न पूछकर क्या आज्ञा है?' यह कहा। आगे भी फिर ऐसा ही कहती हैं, यथा—*'अस बिचारि जस आयसु होई।' 'पति रबि-कुल कैरव-बिपिन बिधु""।'* (५८) में भी पुत्रत्वका उल्लेख नहीं है। मध्यम पुरुषका भी उपयोग न करके उन्होंने प्रथम पुरुषका ही उपयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि माता कौसल्या माताका नाता भूलनेका प्रयत्न कर रही हैं, इसीसे ऐश्वर्यभावमें ही बोल रही हैं। (ख) 'रघुनाथ' शब्दमें भी यही भाव है कि रघुवंशके नाथ होते हुए भी सबको अनाथ करके तुम वनमें जा रहे हो, अतएव हम सबोंका कर्तव्य यही है कि तुम्हारी आज्ञाके अनुकूल चलें।

नोट—३ *'चंद किरन रस रसिक चकोरी""'* इति। (क) यहाँ अयोध्या चन्द्रमा है, अवधके अनेक सुख चन्द्रकिरण-रस हैं, श्रीसीताजी उसकी रसिक चकोरी हैं, वन रवि है, दुःख सूर्यकिरणका ताप है। यहाँ 'ललित अलङ्कार' और 'वक्रोक्ति' है। (पं० रा० कु०) (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि *'चंदकिरन रस रसिक'* से जनाया कि यह तुम्हारे मुखचन्द्रकी कान्तिकी रसिक है, तुम्हारे वियोगरूपी प्रचण्ड सूर्यके सामने नेत्र कैसे करेगी। तात्पर्य कि ऐसा समझकर इन्हें साथ लेना उचित जान पड़ता है। यह कहकर फिर वनके दुःख समझकर लोकाचार-निमित्त वनके दुःख भी दिखाती हैं। प्रायः यही मत स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका है। वे लिखते हैं कि कौसल्याजीने अभी-अभी श्रीरामजीको *'रबि-कुल कैरव-बिपिन बिधु'* कहा है, अतएव श्रीरामजी चन्द्र हैं, कविने भी वन्दनाप्रकरणमें कहा है—*'प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू।'* श्रीसीताजी चकोरी हैं। चन्द्रदर्शनसे ही चकोरीको सुख समाधानकी प्राप्ति होती है। रघुपति विरह दिनेश है, यथा—*'नारि कुमुदिनी अवध सर रघुपति बिरह दिनेस। अस्त भए बिगसत भईं निरखि राम राकेस॥'* (७। ९) चकोरी सीताजी इसके तापको सह न सकेंगी। (प्रायः पंजाबीजीका सब भाव है।)

दो०—करि केहरि निसिचर चरहिं दुष्ट जंतु बन भूरि।
बिष बाटिका कि सोह सुत सुभग सजीवनि मूरि॥ ५९॥

अर्थ—हाथी, सिंह, निसाचर तथा और भी बहुत दुष्ट जन्तु वनमें विचरते फिरते हैं। हे पुत्र! क्या विषकी वाटिकामें सुन्दर सञ्जीवनी बूटी शोभित हो सकती है? (कदापि नहीं)॥५९॥

टिप्पणी—१ (क) *'करि केहरि निसिचर'* और *'दुष्ट जंतु बन'* और *'बिष बाटिका',* श्रीसीताजी और *'सजीवनि मूरि'* परस्पर उपमेय-उपमान हैं। विषकी झाड़से सञ्जीवनी सूख जाती है, वनके दुष्ट जीव-जन्तुओंके सङ्गमें श्रीजानकीजी कैसे जी सकती हैं? *'बिष बाटिका'* से सूचित किया कि विषयुक्त वृक्षोंके बीचमें सञ्जीवनी नहीं शोभित हो सकती। (ख)—वाटिकामें छोटे-बड़े दोनों तरहके वृक्ष होते हैं। अतएव यहाँ भी वनमें विचरनेवालोंकी दो कोटियाँ अर्थात् भाग किये। करि, केहरि और निशाचर भारी जीव हैं। साँप, बिच्छू इत्यादि छोटे-छोटे जीव हैं। यही दो कोटियाँ हैं। तात्पर्य यह है कि जिस सीताको मैं *'जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ'* वही सीता वनमें इन दुष्ट जीव-जन्तुओंके बीचमें कैसे रहेंगी? (ग) *चरहिं*=विचरते हैं, फिरते हैं। भाव कि वनमें जहाँ ही टिको या रहो, वहाँ ही ये दुष्ट आपसे-आप आ प्राप्त होते हैं। (घ) *'सुभग'* का भाव कि सञ्जीवनीमें गुण तो है पर रूप सुन्दर नहीं है और श्रीजानकीजीमें सञ्जीवनीके गुण तो हैं ही, पर सुन्दरता भी है। अतएव *'सुभग सजीवनि मूरि'* कहा।

प० प० प्र०—*'सुभग सजीवनि मूरि'* से ध्वनित किया कि ***'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा।'*** (६०।७) आगे श्रीदशरथजीने भी कहा है कि यदि सीता *'फिरइ त होइ प्रान अवलंबा।'* राजा और रानीके विचारों वा शब्दोंमें भेद विचारने योग्य है। (कौसल्याजीको अलौकिक विवेक होनेसे श्रीरामवियोगमें उनके प्राण नहीं जायेंगे, अतः वे कहती हैं कि मुझे बहुत अवलम्ब होगा। और राजाके तो प्राण ही वियोगमें चले जानेको हैं, अतः वे कहते हैं कि प्राणोंकी रक्षा इनके रहनेसे हो जायगी।)

श्रीकौसल्याजी और राजा जनककी दशा श्रीरामविरहमें एक-सी है। दोनोंको अपने ज्ञानके कारण पछताना पड़ा। यथा—*'ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥',* (५६।८) *'सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं॥ रामहिं राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना॥ हम अब बन ते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई॥'* (२९२। २—४) श्रीसुनयनाजीकी स्थिति कुछ-कुछ दशरथजीकी-सी है।

बन हित कोल किरात किसोरी। रची बिरंचि बिषय सुख भोरी॥१॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ॥२॥
कै तापस तिय कानन जोगू। जिन्ह तपहेतु तजा सब भोगू॥३॥

शब्दार्थ—**हित**=लिये। **किसोरी**=(किशोरी) लड़की, कन्या। **भोरी**=अज्ञान। **पाहन**=पत्थर, पाषाण। **पाहन कृमि**=पत्थरका कीड़ा जो पत्थरको खाता है। **कृमि**=कीड़ा, हेतु=लिये। **भोगू**=उत्तम भोजन-वस्त्र आदि सांसारिक भोगविलासके सुख।

अर्थ—ब्रह्माजीने वनके लिये तो कोल-किरातकी कन्याओंको बनाया है जो विषयसुख (भोग-विलास उत्तम वस्त्र भोजन आदि) से भोरी (अर्थात् न जाननेवाली) हैं॥१॥ जिनका पत्थरके कीड़े-जैसा कठोर स्वभाव है। उन्हें वनमें कभी भी कष्ट नहीं होता॥२॥ अथवा, तपस्वियोंकी स्त्रियाँ वनके योग्य हैं, जिन्होंने तपस्याके लिये सब भोगों (ऐश्वर्य-सुख) को त्याग दिया।

नोट—१ पं० रामकुमारजी यों अर्थ करते हैं—'कोल-किरातोंकी कन्याओंका वनमें हित है जिन्हें ब्रह्माने विषयसुखसे भोरी रचा है अर्थात् वे विषयसुखको नहीं जानतीं। विषयसुखसे भोरी बनाया क्योंकि उन्हें वनमें रहना है, वहाँ विषयसुख कहाँ है?

टिप्पणी—१ *'पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ'* इति। पत्थर कठोर होता है वैसे ही पत्थरके कीड़ेका स्वभाव कठोर है; पत्थरमें रहनेसे उसे क्लेश नहीं। वैसे ही कोल-किरातकी लड़कियोंका स्वभाव कठिन है। इससे उन्हें वनमें रहनेसे क्लेश नहीं है। [पुनः भाव कि उत्पत्तिस्थान कठोर होनेसे उनका स्वभाव स्वतः

कठोर होता है—*'कारन ते कारज कठिन'''। कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर।'* (१७९) और श्रीजानकीजी तो भूमिजा हैं। जैसे पृथ्वीका स्वभाव कोमल है वैसे ही श्रीजानकीजीका स्वभाव है। अत: उनको काननमें क्लेश होगा। (नं० प०)] कठिन स्वभाव, ठंढ-गर्मीकी तपन, वर्षा सबका सहन करनेवाला स्वभाव दिखानेके लिये पत्थरके कीड़ेकी उपमा दी गयी। *'काऊ'* अर्थात् जाड़ा-गर्मी-बरसात कभी भी। (पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'कीड़ेका कठिन स्वभाव है; वह दूसरी वस्तुको नहीं जानता; वैसे ही ये वनको ही जानती हैं। वनमें पैदा हुए लोग उसीको सुख समझते हैं। कीड़ा पत्थर काटता है और ये पाला-गर्मी-सर्दी स्वाभाविक ही काट डालते हैं।')

टिप्पणी—२ (क)—पहले कोल-किरातकिशोरीको (वनके योग्य) कहकर तब तपस्वीकी स्त्रीको कहा। इस क्रमका भाव यह है कि कोल-किरातकी लड़की क्लेश सहनेमें तपस्वीकी स्त्रीसे विशेष हैं; क्योंकि वे तो वनमें स्वाभाविक रहनेसे वनका क्लेश जानती ही नहीं और इनको वनका क्लेश व्यापता अर्थात् मालूम होता है; अतएव उनको प्रथम कहा। दोनोंमें 'प्रथम सम अलङ्कार' है।

टिप्पणी—३ *'तजा सब भोगू'* इति। इससे जनाया कि उन्होंने युवावस्थामें सब सुख भोग लिये, तब तपस्या करने गयीं। भोगसे तप नहीं होता। अतएव तप करनेवाले भोगका त्याग करते हैं, यथा—*'अति सुकुमारि न तनु तप जोगू। पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥'* (१। ७४। २) *'बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहिं भावइ भोगू॥'* (१७३।१) (भाव कि श्रीजानकीजीने तो किसी भोगका त्याग नहीं किया है, अतएव वे आपके साथ वन जाने योग्य नहीं हैं। नं० प०।)

नोट—मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि—*'कै तापस तिय'''*' से वाग्देवीके अभ्यन्तर यह ध्वनि निकलती है कि तपस्वीकी स्त्री वनवासयोग्य हैं; अत: वे साथ जायँ'।

सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती॥ ४॥
सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥ ५॥
अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥ ६॥
जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा॥ ७॥

शब्दार्थ—**लिखित**=खिंची हुई, उतरी हुई। **चारी**=चलने, बिहरने, चलनेवाली। **सुरसर**=देवसर; जैसे-मानससर, नारायणसर, पम्पासर, विन्दसर—(पं० छोटेलाल) **डाबर**=गढ़ा, गड्ढा, जिसमें सूकर लोटते हैं।

अर्थ—हे तात! सीताजी वनमें किस तरह बसेंगी कि जो तसवीरमें बने हुए बन्दरको देखकर डरती हैं?॥ ४॥ सुन्दर मानससरके सुन्दर कमलवनमें विचरण करनेवाली हंसकुमारी (हंसकी पुत्री) क्या गड्ढेमें रहने योग्य है? अर्थात् नहीं है॥ ५॥ ऐसा विचारकर जैसी तुम्हारी आज्ञा हो वैसी ही शिक्षा मैं जानकीजीको दूँ॥ ६॥ माता कहती हैं (अर्थात् फिर बोलीं) कि यदि सीताजी घर रहें तो मुझको बहुत सहारा हो जाय॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'चित्र लिखित कपि देखि डेराती'* इति। भाव कि बन्दरका चित्र देखकर डरनेवाली साक्षात् सिंह-व्याघ्र, बन्दरको देखकर कैसे जियेंगी? *'केहि भाँती'* अर्थात् तन कोमल है, स्वभाव डरपोक है, वनमें अनेक प्रकारके दु:ख हैं, तो ये वहाँ किस तरह रह सकती हैं? यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

टिप्पणी—२ *'सुरसर सुभग बनज बनचारी।'''*' इति। हंस मानसरोवरके कमलवनमें विचरण करते और मोती चुगते हैं। डाबर छोटा गड्ढा होता है जिसमें मैला पानी रहता है, स्वच्छ जल नहीं प्राप्त होता। यहाँ अयोध्या मानसरोवर है, अनेक प्रकारके व्यञ्जनोंका भोजन और नाना प्रकारके सुख-भोग मोतीका चुगना है, अनेक रङ्गोंके कोमल फर्शों, बिछौनों, पावड़ोंपर चलना कमलवनमें विचरना है, वन डाबर है, जानकीजी हंसकुमारी हैं। वनकी डाबरसे उपमा देनेका भाव कि जहाँ अच्छे जलकी भी प्राप्ति नहीं, वहाँ हंसकुमारीको चुगनेको क्या रखा है? तात्पर्य यह कि वनमें पेटभर खानेको भी नहीं है; कपड़ा पहिननेको नहीं, वहाँ

उत्तम सुखके पदार्थकी प्राप्ति कहाँ? (वे बनमें कंदमूल-फल खाकर कैसे रह सकती हैं? अत: वे वनके योग्य नहीं हैं। नं० प०।)

श्रीनंगेपरमहंसजी—वन जानेमें श्रीजानकीजीकी चार इन्द्रियोंको दु:ख होगा, यह दिखानेके लिये माता कौसल्याने चार उपमाएँ दी हैं। प्रथम उपमा जो *'पाहन कृमि'* की दी है वह मनके स्वभावके लिये है। दूसरी उपमा जो *'तापस तिय'* की है वह त्वचा इन्द्रियका दु:ख दिखानेके लिये है। तीसरी उपमा *'चित्र लिखित कपि देखि डेराती'* से नेत्र-इन्द्रियका और चौथी उपमा हंसकुमारीकी देकर जिह्वा और पद इन्द्रियोंका दिखाया। [यदि *'पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा'* से यहाँतकके वाक्योंको ले लें तो प्राय: समस्त इन्द्रियोंका दु:ख दिखाया जान पड़ता है। *'सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा'*, *'दीप बाति नहिं टारन कहऊँ'*, *'रस रसिक.......'*, *'रबिरुख नयन.....'*, *'करि केहरि....'* और *'बिषय सुख भोरी'* में क्रमश: पद, कर, जिह्वा, नेत्र, कर्ण (सिंह आदिके शब्द सुननेसे कानको दु:ख होगा); 'नासिका' (सुगन्ध विषयसुख) को ले सकते हैं।]

प० प० प्र०—*'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी'* से लेकर *'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा'* तक माता कौसल्याजीने अपनी प्रिय पुत्रवधूके विषयमें जो भाव प्रकट किये हैं उनको पढ़कर नारिवर्ग यही कहेगा कि सासु हो तो ऐसी हो। पर ऐसी सास तभी मिल सकती है जब श्रीजनकनन्दिनीजीके समान *'सास ससुर गुरु सेवा'* और *'पति रुख लखि आयसु'* का अनुसरण करनेवाली पतिव्रताशिरोमणि पुत्रवधू हो। ☞ यहाँ गोस्वामीजीने परम प्रेममय सासका परमोच्च आदर्शरूप हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

टिप्पणी—३ *'अस बिचारि जस आयसु होई।.....'* इति। *'अस बिचारि'* का भाव कि इस प्रकार यदि वे विचार करेंगे तो श्रीसीताजीको वन जानेको न कहेंगे। मैं वही शिक्षा दूँ, इसका भाव यह है कि मैं आज्ञा नहीं दे सकती हूँ, शिक्षा दे सकती हूँ, जो आज्ञा आपकी होगी वही शिक्षा मैं दूँगी; अपनी ओरसे मैं कुछ नहीं कहूँगी।

पंजाबीजी—'अर्थात् गुण और दोष दोनोंको विचारकर जो उचित समझो वह आज्ञा दो। और यदि हमारी इच्छा पूछो तो वह तो यह है कि मुझे अवलम्ब होगा।'

वि० त्रि०—*'अस बिचारि.......सोई।'* दो पक्ष होनेपर विचारकी प्राप्ति होती है। यदि एक ही पक्ष हो तो विचारको स्थान नहीं है। यदि सब तर्क जानकीजीके वन जानेके प्रतिकूल ही हों, तब तो यही कहना चाहिये कि 'जानकीजीका साथ जाना सर्वथा अनुचित है।' परन्तु माँ कौसल्या ऐसा नहीं कहतीं, वे कहती हैं कि जो मैंने कहा है, उसपर विचार करके जैसी आज्ञा दो तदनुसार मैं जानकीको शिक्षा दूँ। कौसल्याजीने जो कुछ कहा है, वह सब जानकीजीके वन न जाने देनेके पक्षकी बातें हैं, पर एक बात वे ऐसा बोल गयीं जिससे दूसरे पक्ष अर्थात् साथ जाने देनेकी भी भलीभाँति पुष्टि है, यद्यपि सब मिला-जुलाकर उनका जोर न जाने देनेपर है। वे कहती हैं कि अति सुकुमारी सीता वनवासका कष्ट नहीं सह सकेंगी, पर पति-विरहका सहना भी उनके लिये कम कठिन नहीं है, यथा—*'चंदकिरन रस रसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी॥'* यहाँ रामचन्द्रके विरहकी उपमा सूर्यसे और रामजीकी उपमा चन्द्रसे दिया है। यही नहीं, अन्यत्र भी ऐसी ही उपमा दी गयी है, यथा—*'नारि कुमुदिनीं अवध सर रघुपति बिरह दिनेस। अस्त भए बिकसित भईं निरखि राम राकेस॥'* अर्थात् बड़ी विषम समस्या सीताके लिये उपस्थित है। उधर वनका कष्ट वह नहीं सह सकती, इधर पति-विरहका भी सहना इसके लिये कम कठिन नहीं है, दोनों पक्ष मैंने कह दिये, अब विचार करके तुम निर्णय करो कि क्या उचित है। तुम्हारा ही निर्णय करना इस अवसरपर ठीक है।

टिप्पणी—४ *'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा'* इति। भाव कि जहाँ कोई अवलम्ब नहीं रह गया वहाँ इनके रहनेसे पूर्ण अवलम्ब होगा। क्योंकि कौसल्या माताको श्रीसीताजी श्रीरामजीके समान प्रिय हैं और इसीसे दशरथजी महाराजने कहा है कि जानकीजीके रहनेसे हमारे प्राणोंको अवलम्ब होगा, यथा—*'एहि बिधि करेहु उपाइ कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥'* (८२। ६) पुन: *'बहुत अवलंब'*

का भाव कि इनके रहनेसे सबको अवलम्ब होगा पर मुझे सबसे विशेष होगा क्योंकि मेरे समीप तो रात-दिन रहेंगी।

नोट—श्रीसीताजीका प्रसंग दोहा ५७ से प्रारम्भ हुआ—*'समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।'* यहाँ कविने आदिमें सीताजीका माधुर्य नाम 'सीय' दिया। आगे *'बैठि नमित मुख सोचति सीता।…'* (५८। २) और *'मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहिं सीय पद जनि परिहरहीं॥'* (५८। ६) भी कविके वचन हैं। फिर श्रीकौसल्या अम्बाजीके वचन हैं जिनमें ५ बार 'सिय' शब्द और दो बार 'जानकी' शब्द आया है। यथा—*'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।', 'राखेउँ प्रान जानकिहि लाई', 'सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा।', 'सोइ सिय चलन चहति बन साथा', 'सिय बन बसिहि तात केहि भाँती', 'मैं सिख देउँ जानकिहि सोई।', 'जौं सिय भवन रहै कह अंबा।'* (६। ७)

सुनि रघुबीर मातु प्रिय बानी। सील सनेह सुधा जनु सानी॥ ८॥

दो०—कहि प्रिय बचन बिबेकमय कीन्हि मातु परितोष।

लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोष॥ ६०॥

अर्थ—रघुकुलवीर श्रीरामचन्द्रजीने माताकी मानो शील-स्नेहरूपी अमृतमें सनी हुई प्रिय वाणीको सुनकर॥ ८॥ विवेकसे भरे हुए प्रिय वचन कहकर माताको सन्तुष्ट किया और वनके गुण-दोष प्रकट कहकर श्रीजानकीजीको समझाने लगे॥ ६०॥

टिप्पणी—१ *'सुनि रघुबीर…'* इति। माताने श्रीरामजीके धर्मके अनुकूल वचन कहे हैं; इसीसे वाणीको 'प्रिय' कहा। पुनः, वाणी शील-स्नेहयुक्त है इससे 'प्रिय' है। श्रीरामजानकीजी कौसल्याजीके लड़के (बहू भी पुत्रके ही समान है) हैं, वे जो आज्ञा चाहतीं देतीं, पर शीलके मारे वे कुछ आज्ञा नहीं देतीं, यही कहती हैं कि *'अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई'॥*— यह शील है। और *'जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा॥'* यह स्नेह है। कौसल्याजीकी सब वाणीमें शील और स्नेह भरा हुआ है।

टिप्पणी—२ *'कहि प्रिय बचन बिबेकमय…'* इति। माताने प्रिय वचन कहे। आपने भी वैसे ही वचनोंसे माताको सन्तोष किया। माताको विवेक है, यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* (१। १५१। ३) अतएव विवेकमय वचन कहकर समाधान किया। *'लगे प्रबोधन'* पदसे जनाया कि इनको बहुत देरतक समझावेंगे। 'प्रबोध'से भी बहुत समझाना जनाया। जैसे माताने वनके दोष कहे वैसे ही रामजी वनके गुण और दोष (न जानेके जो गुण हैं और जानेमें जो दोष हैं) दोनों कहकर समझाते हैं। (पाँड़ेजी—*'बिबेकमय'* से जनाया कि अपने स्वरूपका ज्ञान दिया, स्वायम्भुवमनु-शतरूपाकी कथाका लक्ष्य कराया जिसमें मोह न हो।)

मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं॥ १॥

राजकुमारि सिखावनु सुनहू। आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू॥ २॥

आपन मोर नीक जौ चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू॥ ३॥

अर्थ—माताके सामने श्रीजानकीजीसे (कुछ) कहनेमें सकुचते हैं (लज्जा लगती है)। पर मनमें यह समझकर कि (यह) समय ऐसा ही है वे बोले॥ १॥ हे राजकुमारी! मेरी शिक्षा सुनो, हृदयमें और किसी प्रकार कुछ और न समझ लेना॥ २॥ जो अपना और मेरा (दोनोंका) भला चाहती हो तो हमारा वचन मानकर घरमें रहो॥ ३॥

नोट—१ *'मातु समीप कहत सकुचाहीं।'* इति। श्रीरामजी मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। लोक-मर्यादाकी रक्षाके निमित्त माताके समीप पत्नीसे बात करनेमें संकोच करते हैं *'समउ समुझि'* अर्थात् यह विपत्तिका समय

है। विपत्तिमें मर्यादा नहीं रह जाती—*'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति।'* यदि हम इस समय माताका दुःख माताके सामने ही इनसे न कहेंगे तो ठीक न होगा।

नोट—२ वि० त्रि०—*'राजकुमारि····गुनहूँ।'* सरकार बड़े संकोची हैं, बारह वर्ष ब्याह हुए हुआ, पर आजतक माताके सामने जानकीजीसे कभी न बोले। प्रिये आदि सम्बोधन एकान्तका है। माताके सामने 'राजकुमारी' कहकर सम्बोधन करना भारतकी सभ्यताके अनुकूल है।

यद्यपि माँने कहा था कि *'मैं सिख देउँ जानकिहि सोई'* पर सरकार समझ गये कि मेरे साक्षात् समझानेसे माताको अधिक सन्तोष होगा, अतः मातासे कुछ न कहकर जानकीजीसे बोले, आदेश नहीं देते, किंतु सिखावन देते हैं। आदेश तो माताकी सेवाके लिये है, सो यथावसर सीताजी करती ही गयीं, यथा—*'सीय सास प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरस सेवकाई॥'* सिखावनमें भी कह रहे हैं कि मेरे कहनेका दूसरा अर्थ न लगाना अर्थात् यह न समझना कि मैं तुम्हें साथ ले जानेसे भागता हूँ। मैं जिसमें तुम्हारी भलाई समझता हूँ वह कह रहा हूँ।

नोट—३ *'राजकुमारि सिखावनु सुनहू।·····'* इति। 'राजकुमारी' का भाव कि तुम राजकन्या हो, जानती हो कि पतिकी आज्ञा मुख्य है। (पु० रा० कु०) अथवा, राजा परमधीर होते हैं; तुम राजाकी कन्या हो, अतएव तुमको धैर्य धारण करना चाहिये—(पंजाबीजी, रा० प्र०); या सम्मानार्थ ऐसा सम्बोधन किया। (पंजाबीजी) या राजकन्या होनेसे तुम्हारा शरीर बनवासमें मेरे साथ रहने योग्य नहीं है। इस शब्दमें *'सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥'* (६०। ५) का सब भाव है। (प० प० प्र०) मिलान कीजिये—*'राजकुमारि कठिन कंटक मग क्यों चलिहौ मृदु पद गजगामिनि।'* (गी० २। ५) भाव कि तुम महलमें रहनेवाली, सुकुमारी हो, वनके योग्य नहीं····।

नोट—४ *'आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू'* इति। अर्थात् जो मैं कहूँ उसे सुनकर हृदयमें धारण करो। अथवा प्राण छोड़नेका जो विचार हृदयमें करती हो सो न करो यथा—*'चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥ की तनु प्रान कि केवल प्राना।'* इत्यादि। (पु० रा० कु०) पुनः हृदयमें कुछ दूसरी प्रकारसे न समझना, इस कथनका भाव यह है कि मेरी बातोंका उलटा अर्थ न लगा लेना। (दीनजी) 'दूसरी तरह मनमें कुछ न बिचारो' इस वाक्यमें वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है कि जैसा मैं कहता हूँ वैसा ही करो। (वीरकवि) पुनः भाव कि यह न समझो कि मैं तुम्हारा परित्याग करना चाहता हूँ (पा०); किंतु देश-काल-परिस्थित्यनुसार तुम्हारा, मेरा और रघुवंशका जिसमें हित होगा वही करना उचित है। (प० प० प्र०)

नोट—५ *'आपन मोर नीक जो चहहू।·····'* इति। (क) अर्थात् घरमें रहनेसे दोनोंका भला होगा। तुम वनके क्लेशसे बचोगी, हम तुम्हारी रक्षा (के उद्योग) से बचेंगे। अथवा सासकी सेवासे हमारा-तुम्हारा दोनोंका कल्याण होगा। (पु०रा० कु०) पुनः, भाव कि परदा बना रहेगा, पतिकी आज्ञाका पालन करके तुम उत्तम धर्मको प्राप्त होगी। (पंजाबीजी, रा० प्र०) (ख) प्रथम चरणमें *'मोर'* कहकर दूसरेमें ही *'हमार'* बहुबचनका प्रयोग करके जनाया कि मेरा और पूज्य माताजीका वचन मानना तुम्हारा धर्म है। माताकी इच्छा उनके अन्तिम वचन *'जौं सिय भवन रहै·····'* में प्रकट हुई है। (प० प० प्र०)* (ग) मैं अपने और तुम्हारे दोनोंकी भलाईकी बात कहूँगा, इसलिये उसे मानकर घर रह जाओ, अर्थात् बन जानेके लिये हठ करोगी तो मैं साथ ले चलूँगा इसमें सन्देह नहीं, पर हम दोनोंकी भलाई तुम्हारे घर रहनेमें है। मैं वन जाता हूँ, अतः माता-पिताकी पूजासे वञ्चित रहूँगा, तुम घर रहकर उनकी पूजा करती रहोगी तो मानो मैं ही पूजा कर रहा हूँ। माता कहती है कि *'जौं सिय भवन रहै···मो कहँ होइ बहुत अवलंबा'* तुम्हारे चले जानेसे माँ अपनेको निरालम्ब समझेगी, यह हमलोगोंके कल्याणकी बात न होगी। अतः मेरा-तुम्हारा हित तुम्हारे घर रह जानेमें ही है। (वि० त्रि०)

* दूसरा अर्थ—मेरी आज्ञा है कि सासकी सेवा करो। (दीनजी)

नोट—६ पं० शिवलाल पाठकजीका मत है कि '*राजकुमारि सिखावनु सुनहू। आन भाँति जिय जनि कछु धरहू॥*' से लेकर तीन दोहोंमें जो शिक्षा दी गयी है वस्तुतः यह माताके सहारेके लिये घरमें रहनेकी शिक्षा नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा मानें तो रावणका वध किस बहानेसे करेंगे? घरमें रहनेको कहें तो मुख्य कार्यमें बाधा होगी। अतएव इनमें ऊपरसे देखनेमें तो घरमें रहनेकी शिक्षा है और अन्तर्लापिकासे वनमें साथ चलनेका भाव है उनके मतानुसार '*आन भाँति जिय जनि कछु धरहू*' मनमें अन्य प्रकार न विचारो—इसमें ध्वनि यह है कि सनातनकी परिपाटीको विचारो और '*आपन मोर नीक जो चहहू।*'··· में आन्तरिक भाव यह है कि जो तुम अपनी और मेरी भलाई चाहो तो हम ही तुम्हारे घर अर्थात् विश्रामके स्थान हैं, मेरे साथ रहो। इसमें तुम्हारी भलाई है। वियोग न होगा और देवताओंका कार्य करूँगा, इससे मेरी भलाई होगी।—(अ० दी० च०) (सभी रामायणोंमें प्रायः वनके कष्टोंके विचारसे घरपर रहनेका उपदेश किया है और अन्तमें दृढ़ निश्चय देखकर साथ लिया गया है। सतीशिरोमणि इस उपदेशको मानेंगी ही क्यों? इस उपदेशपर ही उनका अनन्य पातिव्रत्य प्रकट होगा जो संसारकी देवियोंके लिये उपदेश होगा। घरपर रहनेका उपदेश है पर वे उसे स्वीकार ही क्यों करेंगी?)

आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥ ४॥
एहि ते अधिकु धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुरपद पूजा॥ ५॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम बिकल मति भोरी॥ ६॥
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुंदरि समुझायहु मृदु बानी॥ ७॥

शब्दार्थ—**दूजा**=दूसरा। **भोरी**=पागलकी-सी।

अर्थ—मेरी आज्ञाका पालन होगा और सासकी सेवा हो जायगी इस प्रकार हे भामिनी! घरमें रहनेमें सब तरहसे भलाई है॥ ४॥ आदरसहित सास-ससुरके चरणोंकी पूजासे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है॥ ५॥ जब-जब माता 'मेरी याद करेंगी' तब-तब प्रेमसे व्याकुल हो उनकी बुद्धि पागलकी-सी हो जायेगी॥ ६॥ हे सुन्दरी! तब-तब तुम पुराणसम्बन्धी कथाएँ कह-कहकर कोमल वाणीसे उन्हें समझाना॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ अर्थ-धर्म-काम और मोक्ष चारोंकी प्राप्ति घरपर रहनेमें दिखाते हैं। 'अपना भला चाहना' अर्थ है, 'मेरा (पतिका) भला चाहना' धर्म है, 'मेरी आज्ञाका पालन करना' काम है और माताकी सेवा मोक्ष है—इस प्रकार चारों पदार्थ घर बैठे तुमको प्राप्त होंगे। [पुनः, भाव कि 'नहीं तो दोनोंको दोष होगा तुमको भी बिछोह होगा और हमको वियोग होगा।' (पण्डितजी)]

टिप्पणी—२ '*भामिनि*=क्रोधवती, मानवती। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीको वनमें चलनेकी अनुमति न दी तब वे बड़ी चिन्तित और क्रोधित हुईं—'**चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान्। क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बहु सान्त्वयत्॥**' (सर्ग २९ श्लो० २४) अर्थात् इस प्रकार चिन्तित और क्रोधमें पड़ी हुई सीताको अपना निश्चय बदलनेके लिये श्रीरामजीने बहुत समझाया। और क्रोधमें आकर उन्होंने कहा था कि बचपनमें जिसके साथ आपका ब्याह हुआ उसे आप नटकी तरह दूसरेको देना चाहते हैं, आप मुझे भरतके अनुकूल चलनेका उपदेश देते हैं कि जिनके लिये आपका अभिषेक रोक दिया गया, मैं कदापि उनकी अनुकूलवर्ती नहीं बननेकी, मैं सर्वत्र साथ रहूँगी, नहीं तो प्राण दे दूँगी······। (सर्ग ३० श्लोक ८—१०) गोस्वामीजीने इस विरस बातको अपने ग्रन्थमें नहीं लिखा। पर '*भामिनि*' सम्बोधन देकर उन्होंने उस बातको भी सूचित कर दिया।

प० प० प्र०—यहाँ '*भामिनि*' का अर्थ क्रोधशील लेना उचित नहीं है। मानसकी सीता और वाल्मीकीयकी सीतामें महदन्तर है। मानसकी सीताने कहीं भी किसीपर भी किञ्चित् भी क्रोध नहीं किया है, इतना ही नहीं, उन्होंने सती-धर्मका जरा-सा भी उल्लङ्घन कहीं नहीं किया है, श्रीशबरीजीके लिये भी श्रीमुखसे 'भामिनी' शब्दका प्रयोग बहुत बार हुआ है पर वहाँ तो वाल्मीकीयमें भी कुछ भी आधार नहीं मिलता है, जिससे

'कोप' का अर्थ किया जाय। यहाँ 'भामिनी' का अर्थ 'सुन्दरी' 'रामा' करना ही उचित है शबरीजीके प्रसङ्गमें घटित होता है। ३। ३५। ४; ३। ३६। ७—१० देखिये। (यह भी स्मरण रहे कि यह वाल्मीकीयके रामावतारकी सीता नहीं हैं। इसीसे स्वभावमें भेद है।)

पाँड़ेजी इस चरणका यह अर्थ करते हैं—'भामिनीकी घरहीमें सब विधि भलाई होती है। वा हे भामिनी! सब विधि भलाईका भवन यही है जो हम कहते हैं।' *'एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा'* यही सब विधि भलाई है।

टिप्पणी—३ *'एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। ....'* इति। (क) श्रीजानकीजी पातिव्रत्य धर्मपर उद्यत हैं, पतिकी सेवाके लिये पतिके साथ जाना चाहती हैं। इसीसे श्रीरामचन्द्रजी यह कहते हैं कि सास-ससुरकी सेवासे अधिक हमारी सेवा नहीं है, वे हमारे भी देवता हैं, तुमको घरमें ही हमारी सेवाके समान इनकी सेवा प्राप्त है तब तुम वन क्यों चलती हो? 'अधिक' क्योंकि मैं तुम्हारा पूज्य देवता हूँ और माता-पिता मेरे भी पूज्य देवता हैं, अतएव उनका पूजन मुझसे अधिक है। वे देवके भी देव हैं। (रा० प्र०, पं०) (ख)—*'सादर सासु ससुर पद पूजा।'* अर्थात् उनकी सेवा केवल हमारी आज्ञा पालनके विचारसे न करना वरन् अपनी भक्तिसे उनकी सेवा करना। अथवा, पादपूजन चौथी भक्ति है, भक्ति आदरसे करना ही चाहिये। अतएव *'सादर'* कहा।

टिप्पणी—४ *'जब जब मातु....तब तब तुम्ह....'* इति। (क) अर्थात् जब वे व्याकुल हो जायँ तब व्याकुलता दूर करनेके लिये कथाएँ कहना और बुद्धिको सावधान कर देना। पुनः, ऐश्वर्यमें भी मतिको सावधान करनेवाली तुम्हीं हो, यथा—*'जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥ ताके जुगपदकमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥'* (ख) *'कहि कथा पुरानी।'* भाव कि कौसल्याजी पण्डिता हैं, प्रामाणिक कथाओंमें मन लगेगा और नवीन कथाके सुननेमें मन लगता है। (ग)—*'समुझायहु'* क्योंकि हमारी यादमें वे व्याकुल होंगी, समझानेपर व्याकुलता दूर होगी।

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि मैं जो सासु-ससुरकी सेवाके लिये घरपर रहनेको कहता हूँ इससे यह न समझना कि तुम्हारे पति-प्रेममें न्यूनता आवेगी। केवल माताके हितके लिये तुम्हें यहाँ रखता हूँ। तुम उनकी व्याकुलतामें उनको सँभाल सकोगी।

नोट—२ पण्डितजी—भाव यह कि यदि कहो कि यहाँ अनेक दास-दासी सेवा करनेको हैं, हम कौन सेवा करेंगी तो उसपर कहते हैं कि माताको व्याकुल होनेपर समझाओगी।

कहौं सुभाय सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखौं तोही॥ ८॥

दो०—गुर श्रुति संमत 'धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस।
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥ ६१॥

अर्थ—हे सुमुखि,! मैं स्वभावसे ही कहता हूँ, कुछ बनाकर नहीं कहता, मुझे सैकड़ों शपथ है, कि मैं तुम्हे माताके लिये घरपर रखता हूँ॥ ८॥ गुरु और वेदकी सम्मति* अर्थात् जो गुरु और वेद कहते हैं वही धर्मका फल बिना क्लेश प्राप्त हो जाता है। परन्तु हठके वश होनेसे गालव मुनि और राजा नहुष आदि सबने संकट ही सहा है॥ ६१॥

टिप्पणी १—(क) *'सपथ सत मोही'* इति। श्रीरामचन्द्रजीने विचार किया कि कहीं सीताजीके मनमें यह न आवे कि माताके समझानेके लिये अरुन्धती (वसिष्ठ-पत्नी) आदि मुनियोंकी बहुत-सी स्त्रियाँ हैं, यहाँ माताके समझानेके लिये रखते हैं, यह केवल हमको त्याग करनेका एक बहाना है। अतएव उनको विश्वास दिलानेके लिये 'शत शपथ' करते हैं। (ख) किसकी शपथ की यह यहाँ नहीं खोला। कारण यह है कि सैकड़ों शपथ करते हैं। इससे किसी एकका नाम नहीं कहते। नाम न लेनेसे सबकी शपथ हुई, नहीं

* पाँड़ेजी—वेदके सम्मत जो गुरु अर्थात् उत्तम धर्म है।

तो जिसका नाम लेते केवल उसीकी शपथ मानी जाती। (ग) *'सुमुखि'* का भाव कि माताका हित इस सुन्दर मुखसे होगा। इसीसे कोमल वाणीसे पुरानी कथाएँ कहकर माताको समझाना।

टिप्पणी—२ *'गुर श्रुति संमत धरम फलु·····'* इति। (क) पतिकी आज्ञाका पालन, सास-ससुरकी सेवा, यह गुरु-श्रुतिसम्मत धर्म है। इसका फल स्वर्ग है सो बिना क्लेश मिलता है। पुनः, *'गुरु श्रुति संमत धरम'* कथनका भाव कि गुरु और वेद दोनोंके सम्मतमें जो धर्म है वह पुष्ट धर्म है। गुरु और वेद दोनों कहनेका भाव यह कि वेदवाक्यका समझानेवाला भी कोई चाहिये। गुरु उसके ज्ञाता और समझानेवाले हैं, अतएव दोनोंको यहाँ कहा। (ख) *'पाइअ बिनहिं कलेस।'* भाव कि धर्मके साधनमें बड़ा क्लेश है, यथा—*'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥'* (९५। ३) वही धर्म यहाँ सासु-ससुरकी सेवासे बिना कष्टके प्राप्त हो रहा है।

टिप्पणी—३ गालव मुनिने विश्वामित्रसे बड़ा हठ किया कि गुरुदक्षिणा लीजिये। विश्वामित्रजीने मना किया कि हठ न करो पर वे न माने; तब विश्वामित्रने ८०० श्यामकर्ण घोड़े माँगे। गालव मुनि देश-देशके राजाओंके यहाँ मारे-मारे फिरे, बड़े संकटमें पड़े। गालवने इसी शरीरमें संकट सहा और राजा बृहस्पतिका कहना न माननेसे विप्रशापसे अजगर होकर नहुषको दूसरे शरीरमें संकट सहना पड़ा। वैसे ही यहाँ हठ करनेसे श्रीजानकीजीको इस तनमें यह क्लेश हुए—पंथमें यह क्लेश हुआ कि शूर्पणखासे भयभीत हुईं। दूसरा तन (छायारूप) धारण किया तब रावणने हरण किया, वर्षभर बड़े संकटमें रहीं। इस प्रकार दोनों तनसे संकट भोगना पड़ा। यही दिखलानेके लिये गालव मुनि और नहुष दोके इतिहास कहे।

रा० प्र०—गुरुदक्षिणा देना धर्म है, पर गुरुसम्मत न था। गुरुसे हठ किया, इससे संकट पड़ा।

गालव मुनि—नारदजीने दुर्योधनको समझाते हुए कि सुहृद्की बात हठ छोड़कर सुनना चाहिये, हठ करना ठीक नहीं है, महर्षि गालवने हठके कारण नीचा देखा, गालव मुनिका इतिहास यों कहा है—एक समय धर्मभगवान् वसिष्ठका रूप धारणकर विश्वामित्रकी परीक्षाके लिये गये और उनसे भोजन माँगा। जबतक वे भोजन तैयार करके लावें ये अन्य मुनियोंका दिया हुआ अन्न खाकर तृप्त हो गये। विश्वामित्रके भोजन लानेपर वे बोले कि मैं भोजन कर चुका, तुम खड़े रहो। वे वहीं सिरपर गर्म भोजन लिये खड़े रहे। इस अवस्थामें उनके शिष्य गालव मुनि गुरुके गौरव-मान और प्रियके लिये उनकी सेवा करते रहे। सौ वर्ष बीतनेपर धर्म फिर उसी रूपसे आये और भोजन कर लिया। तथा विश्वामित्रको ब्रह्मर्षि कहकर चल दिये।

शिष्य गालवकी सेवासे सन्तुष्ट होकर गुरुने आज्ञा दी कि अब तुम जहाँ चाहो जाओ। गालव मुनिने कहा मैं गुरुदक्षिणा देना चाहता हूँ जो आज्ञा हो वह दूँ और इस ऋणसे छुटकारा पाऊँ। गुरु विश्वामित्रजीने कहा कि उसकी जरूरत नहीं है, पर उन्होंने न माना, बड़ा हठ किया। तब गुरुने कहा **'एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्। अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम्॥'** (१०६। २७) अर्थात् अच्छा जो दक्षिणाकी हठ है तो शीघ्र तुम एक रंग-रूपके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल ८०० श्यामकर्ण घोड़े लाकर दो। गालव मुनि बड़े चिन्तित हो गये, उनका शरीर सूख गया। वे प्राण देने (आत्महत्या) के लिये तैयार हो गये। अन्तमें उन्होंने भगवान् विष्णुका आश्रय लिया, तब गरुड़ने आकर सहायता की। बहुत घूमे पर घोड़े न मिले। तब गरुड़ उनको राजा ययातिके पास ले गये और उनसे सब वृत्तान्त कहकर भिक्षामें घोड़े माँगे। राजाने अपनी परम सुन्दरी कन्या माधवी उनको दी कि इसको आशीर्वाद है कि इससे चार वंश चलेंगे। आप इसके द्वारा अपना मनोरथ पूरा करें। सोच-विचारकर वे इक्ष्वाकुवंशीय राजा हर्यश्वके पास गये जो पुत्रके लिये तप कर रहे थे—और कहा कि आप इसे ग्रहण करें। इसका शुल्क ८०० श्यामकर्ण घोड़े हैं। राजाने कहा कि मेरे पास २०० घोड़े हैं उन्हें लीजिये और मुझे इससे एक पुत्र उत्पन्न कर लेने दीजिये। मुनिने स्वीकार किया। इसके बाद मुनिने काशीके राजा दिवोदास, भोज नगरके राजा उशीनरसे इसी प्रकार दो-दो सौ श्यामकर्ण घोड़े प्राप्त किये। अब दो सौ घोड़े रहे तब गरुड़ने मुनिसे कहा कि

और घोड़े कहीं अब पृथ्वीमें नहीं हैं, तुम उनके बदलेमें इस कन्याको ही विश्वामित्रको दे दो। उन्होंने आकर ऐसा ही किया। गालव मुनिको इस हठके कारण बहुत संकट उठाना पड़ा। अ० १०८—११७। (महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १०६—११७)

नहुष—राजा नहुष महातेजस्वी, यशस्वी, धर्मिष्ठ और दानी था। इन्द्र जब वृत्रासुरका वध करनेसे ब्रह्महत्यासे पीड़ित हो जलमें छिप रहे; चारों ओर अराजकता छा गयी, तब देवताओंने राजा नहुषको इन्द्र बनाया और उनको शक्ति दी कि जिससे इनके तेजके आगे किसीका तेज न रहे। **'तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि।····'** (११। ८) **'अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे।'** (९) नहुषने एक दिन इन्द्राणीको देखा तो उसका चित्त दूषित हो गया और उसने आज्ञा दी कि वे तुरन्त उसकी स्त्री बनें। इन्द्राणी बृहस्पतिकी शरणमें गयीं। इसपर नहुषके क्रोधका ठिकाना न रह गया। देवताओं और ऋषियोंने नहुषको बहुत समझाया पर कामान्ध नहुषने उनके समझानेपर कुछ ध्यान न दिया। तब देवता, गन्धर्व, ऋषि सबने जाकर देवगुरुसे परामर्श किया। उन्होंने कहा कि इन्द्राणी नहुषके पास जाकर मुहलत माँगे। ऐसा ही किया गया। नहुष प्रसन्न हुआ और मुहलत दी कि इन्द्रका पता लगा ले।

इन्द्राणीने इन्द्रका पता लगाकर उनके पास जा सब वृत्तान्त सुनाया और पातिव्रत्यकी रक्षा चाही। इन्द्रने यह उपाय बताया कि तुम एकान्तमें नहुषसे मिलकर कहो कि तुम मुझसे मिलनेके लिये ऋषीश्वरोंकी दिव्य सवारीपर चढ़कर आओ तो मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे अधीन हो जाऊँगी। शचीने ऐसा ही किया। राजासे जाकर कहा—मेरी इच्छा है कि सब ऋषि मिलकर अपने कन्धेपर आपकी सवारी ले चलें, इस प्रकार नयी सवारीपर चलना आपके योग्य होगा। कोई ऋषि कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि आपके तेजके सामने सबका तेज हर जाता है। नहुषने इसे अङ्गीकार किया। इधर बृहस्पतिजीने भी उसके भ्रष्ट होनेके लिये और इन्द्रके खोजनेके लिये यज्ञारम्भ किया।

नहुष देवर्षि और महर्षियोंसे पालकी उठवाकर इन्द्राणीके पास चला। थक जानेपर ऋषियोंने राजासे कहा कि आप अधर्मपर उतारू हैं। पूर्वके महर्षिगण और ब्रह्मा जो कह आये हैं उसे आप नहीं मानते—इसपर वादविवाद होनेपर क्रोधान्ध हो नहुषने अगस्त्यजीके सिरपर लात चलायी। अगस्त्यजीने शाप दिया कि तूने अधर्मसे व्याप्त होकर मेरे सिरमें पैरकी ठोकर मारी—**'अथ मामस्पर्शन्मूर्ध्नि पीडितः।'** (१७। १२) अतः तू तेजहत होकर पृथ्वीपर गिर और दस हजार वर्षतक अजगर बना रह। (महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १०—१७)

मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी॥ १॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा। सुंदरि सिखवनु सुनहु हमारा॥ २॥
जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥ ३॥

शब्दार्थ—**प्रवान**=प्रमाण, सच्चा, पूरा। **बारा**=देर। **बामा**=(सं० वाम) स्त्री।

अर्थ—हे सुमुखि! हे चतुरे! सुनो, फिर मैं भी पिताके वचनोंको पूरा करके शीघ्र ही लौटूँगा॥ १॥ दिन जाते देर न लगेगी, सुन्दरी! हमारी यह सीख (शिक्षा) सुनो॥ २॥ यदि हे वामा! तुम प्रेमवश हठ करोगी तो अन्तमें परिणामस्वरूप दुःख पाओगी॥ ३॥

टिप्पणी १—***'करि प्रवान पितु बानी'*** अर्थात् तुम माताकी सेवा करो, मैं पिताका वचन पालन करूँ। ***'बेगि फिरब'*** अर्थात् पिताकी आज्ञा पालन कर एक दिन भी बाहर न रुकूँगा। ***'सुमुखि सयानी'***—भाव कि मुखकी सुन्दरता इसीमें है कि स्वामीकी आज्ञा सुनकर उत्तर न दे, यथा—***'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥'*** (२६९। ५) ***'सयानी'*** अर्थात् तुम सब धर्म जानती हो। तुम्हे विशेष कहने-समझानेकी आवश्यकता नहीं है।

टिप्पणी—२ ***'दिवस जात नहिं लागिहि बारा। सुंदरि····'*** इति। १४ वर्ष बहुत होते हैं, अतएव सीताजीके ढारस (खातिर) के लिये कहा कि दिन बीतते देर न लगेगी। ***'सुन्दरि'*** अर्थात् हमारी सीख माननेहीमें

तुम्हारी सुन्दरता है। (यहाँ श्रीसीताजीके शरीर-सौन्दर्य कथनका अभिप्राय नहीं है। यहाँ 'सुन्दरि' सम्बोधनसे 'अत्यन्त आदरणीय' अर्थका ग्रहण है। भाव यह है कि माताजीके मनमें तुम्हारे प्रति बहुत आदर है, इससे प्रेमाकुल दशामें उनको तुम्हारे मृदु वचनोंसे समाधान होगा। प० प० प्र०)

टिप्पणी—३ *'जौं हठ करहु प्रेम बस बामा।'*''''' इति। (क) *'बामा'* सम्बोधन *'हठ'* के साथ बड़ा ही उत्तम है। यह शब्द ही 'आज्ञाका उल्लङ्घन' वा अपनी बातका हठ एवं पतिसे प्रतिकूलता सूचित कर रहा है। अन्तमें दुःख पाओगी अर्थात् वन चलनेमें दुःख पाओगी; पुनः तुम्हारा हरण होगा, एक वर्षका हमसे वियोग होगा।* [(ख) पुनः भाव कि यदि अपने पातिव्रत्य धर्मका विचार करके चलना चाहती हो, तो वह गुरुश्रुतिसम्मत धर्म फल तुम्हें घर बैठे बिना परिश्रम ही मिल जाता है, अतः धर्मके लिये साथ चलना आवश्यक नहीं। यह कहकर हठकी निन्दा की। गालव और नहुष नरेशका उदाहरण दिया, और प्रशंसा करते हुए कहा कि तुम वामा हो, स्त्रियोंमें उत्तम हो, तुमको हठ शोभा न देगा। यदि तुमने प्रेमवश हठ किया तो परिणाम वही होगा, जो हठी लोगोंका होता है। अन्तमें दुःख पाओगी, और वही हुआ। परिणाममें दुःखकी भविष्यद्वाणी कहकर, स्वयं वनगमन और वनवासके क्लेशोंका वर्णन करते हैं। (वि० त्रि०)]

काननु कठिन भयंकरु भारी। घोर घामु हिम बारि बयारी॥४॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥५॥

शब्दार्थ—**कठिन**=कठोर। **घोर**=भयानक, तीक्ष्ण, विकट। **बयारी**=पवन, वायु। **कुस**=(कुश) कासकी तरहकी एक घास जिसकी पत्तियाँ नुकीली, तीखी और बड़ी होती हैं। यह पवित्र माना जाता है, कर्मकाण्ड तथा तर्पण आदिमें इसका उपयोग होता है। (श० सा०) **कंटक**=काँटा। **पयादेहिं**=पैदल। **पदत्राना**=पैरोंकी रक्षा करनेवाला=खड़ाऊँ या जूता।

अर्थ—वन कठिन और भारी भयावन है। घाम, जाड़ा-पाला, वर्षा और पवन सब वहाँ बड़े विकट होते हैं॥४॥ मार्गमें कुश, काँटे और कंकड़ बहुत हैं। तुम्हें पैदल (और उसपर भी) बिना जूतीके चलना होगा॥५॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रा० कु०—(क) *'कानन कठिन'*''''' अर्थात् वनकी भूमि कठिन है, यथा—*'कठिन भूमि कोमल पदगामी।'* (४। १। ८) वन भयंकर है। उसका खयाल आते ही डरसे कलेजा दहल जाता है; प्रत्यक्षकी कौन कहे, यथा—*'डरपहिं धीर गहन सुधि आये।'* [दण्डकारण्य ४०० कोसका भारी भयदायक है—(खर्रा) (ख) प्रथम घाम कहा। श्रीरामचन्द्रजीका वनगमन चैत्रमें हुआ और चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़में तीक्ष्ण घाम होता है, अतएव प्रथम घाम अर्थात् ग्रीष्म-ऋतुका ही दुःख कहा। फिर वर्षा होती है पर वर्षाको न कहकर हेमन्त-ऋतु अर्थात् जाड़ेका दुःख कहा, क्योंकि (गर्मीमें) जैसा घामका दुःख होता है वैसा ही जाड़ेमें शीतका दुःख है; दोनोंको साथ-साथ लिखने और कहनेका यही कारण है। *'बारि'* से वर्षाका दुःख सूचित किया। अन्तमें 'बयारि' को कहनेका भाव कि *'बयारी'* का अन्वय घाम, हिम और बारि तीनोंके साथ है। घामके, हिमके या वर्षाके साथ जब पवनका झँकोरा चलता है तब बड़ा दुःख देता है।

टिप्पणी—२ *'कुस कंटक मग काँकर नाना।'*''''' इति। कुश काँटेसे भी अधिक लगता है; अतः उसे प्रथम कहा। *'पयादेहिं'* का भाव कि पालकीमें बैठनेसे घाम, हिम, बारि और बयारिका दुःख नहीं होता, पर हमारे साथ पैदल ही चलना होगा, पदत्राण होनेसे कुशकाँटा या कंकड़का दुःख न होता, पर तुम्हें बिना पदत्राणके चलना होगा। (अतः यह दुःख भी झेलना पड़ेगा।) *'कुस कंटक'*''''' से यह भी जनाया कि कहीं-कहीं तो इनसे ढक जानेके कारण मार्गका पता भी नहीं चलता। यथा—'**मार्गो न दृश्यते क्वापि**

* अ० दी० च० का मत है कि 'परिणाममें जो दुःख सहनेको कहा उसका आन्तरिक भाव दुःखका आक्षेप अर्थात् निषेध है। सन्दर्भ यह कि ऊपरसे कहा कि वनमें दुःख होगा, परन्तु भीतरी भाव दुःखका निषेध है।' शृङ्खलाके लिये ६१। २-३ देखिये।

शर्कराकण्टकान्वितः।' (अ० रा० २।४।६७) (कुश और काँटेदार वृक्षोंकी डालियाँ मार्गको छेंके रहती हैं, उनसे शरीर छिल जाता है। इत्यादि) वनकी भयंकरता कहकर अब मार्गका कष्ट दिखा रहे हैं।

चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥ ६॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥ ७॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥ ८॥

शब्दार्थ—'**अगम**'='अगम्य'; जहाँ कोई जा न सके, निकलनेका रास्ता न हो, एक-एक करके भी न गुजर सके। पहुँचके बाहर। '**मारग**'=मार्ग, रास्ता। '**भूमिधर**'=पृथ्वीको धारण करनेवाले, पर्वत। '**कंदर**'=गुफा, पर्वतकी सुरंग—[यह स्वाभाविक होती है जो पहाड़ी जलसे बन जाती है—(दीनजी)] '**खोह**'=दो पहाड़का तंग रास्ता जो ऊपरसे पहाड़ोंके निकले हुए बड़े भागसे घिरा रहता है—(दीनजी) '**नद**'=बड़ी नदी। '**नारे**'=नाले। '**बृक**'=भेड़िया। '**भालु**'=ऋक्ष, रीछ।

अर्थ—तुम्हारे चरणकमल सुन्दर और कोमल हैं। रास्ता अगम्य है। उसमें बड़े-बड़े पहाड़ हैं॥ ६॥ कन्दराएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे दुर्गम और गहरे हैं कि उनकी ओर देखा नहीं जाता अर्थात् देखनेसे डर लगता है॥ ७॥ रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी ऐसे भयावने शब्द करते हैं (गरजते हैं) कि सुनकर धीरज भाग जाता है (धैर्य जाता रहता है)॥ ८॥

नोट—क्रमशः मार्गकी दुर्गमता दिखाते चल रहे हैं। पहले सामान्य फिर विशेष तब उससे विशेष। (१) पहले कुश-काँटा-कंकड़ यह सामान्य अगमता कही। अब कहते हैं कि एक तो तुम्हारे चरण ही कोमल हैं इससे तुम्हें मार्गपर चलना स्वाभाविक ही कठिन है; उसपर भी मार्ग कैसे हैं कि *'अगम भूमिधर भारे।'* अर्थात् एक तो मार्ग ही दुर्गम, उसपर भी चढ़ाव-उतार, बड़े-बड़े पर्वतोंका चढ़ना-उतरना यह तो बहुत ही कठिन है। *'अगम'* में बहुत भाव मिश्रित हैं—भूमि कठिन, जल्दी चुकनेवाली नहीं, ऊँची-नीची, रास्ता ठीक बना नहीं है, इत्यादि। यह कहकर अधिक दुर्गमता दिखाते हैं कि *'कंदर खोह……'* (२) *'कंदर खोह……'* का भाव कि पहाड़ोंमें कंदराएँ और खोह होते ही हैं, वे ऐसे होते हैं कि उनमें किसीका गम-गुजर नहीं हो सकता। नदी, नद, नाले अगाध हैं, बहुत गहरे हैं, थाह नहीं मिलती, देखे डर लगता है—सो इनमेंसे होकर चलना पड़ेगा, जलमें हलना पड़ेगा। (३) पहले पहाड़ कहा, पहाड़में कन्दरा खोह आदि होते हैं; इससे उन्हें कहा। खोह-कन्दरामें हिंसक पशु रहते हैं इससे अब उनको कहते हैं। इनके कारण वे कन्दराएँ और खोह और भी भयावन तथा अगम्य हो जाते हैं। (४) नदी, नद, नालोंकी अगमता यह भी है कि उनमें मगर-घड़ियाल आदि रहते हैं, किसी-किसीमें दलदल होता है, किसी-किसीकी धारा बड़ी तीव्र होती है, मत्त हाथी भी तैरकर पार नहीं जा सकते। यथा—'**सग्राहाः सरितश्चैव पाङ्कवत्यस्तु दुस्तराः। मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम्॥**' (वाल्मी० २। २८। ९)

टिप्पणी—१ थल, जल, नभ ये तीन स्थल हैं। यहाँ तीनोंकी अगम्यता तीन चरणोंसे दिखायी। (क) *'कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥'* यह स्थलकी अगमता। (ख) *'नदी नद नारे'* यह जलकी अगमता। और (ग)—*'भूमिधर भारे'* यह नभकी अगमता है। (पहाड़ोंकी ऊँचाई लेकर इससे 'नभ' का भाव लिया। पहाड़ मानो आकाशसे बातें कर रहे हैं।)

टिप्पणी—२ भालु और बाघ आदि कन्दरा, खोह, नदी, नद, नालोंमें रहते हैं। इसीसे इनको पहले कह आये। जहाँ भालु आदि रहेंगे वहाँ वे 'नाद' करेंगे अतएव उनको कहकर उनका नाद कहा। वृक्षपर चढ़नेसे बाघ, बृक, केहरि और नागसे लोग बच जाते हैं पर भालुसे वहाँ भी नहीं बच पाते। घातक जीवोंमें भालु सबसे अधिक घात करनेवाला है; इन कारणोंसे भालुको प्रथम कहा। *'नाद सुनि धीरजु भागा'* का भाव कि जब गर्जन सुनकर धैर्य छूट जाता है तब लोग भी वहाँसे भाग जाते हैं। नदी, नद, नालोंको कहकर भालु-बाघादिके नादका उल्लेख करके यह भी जनाया कि भालु-सिंह आदिके शब्द पहाड़ी नदियोंके

साथ मिलकर सुननेमें बड़े दु:खदायी होते हैं, यथा—'**गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम्। सिंहानां निनदा दु:खाः श्रोतुं दु:खमतो वनम्॥**' (वाल्मी० २। २८। ७)।

दो०—भूमि सयन बलकल बसन असनु कंद फल मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं सबुइ समय अनुकूल॥६२॥

शब्दार्थ—'**बलकल**'=वृक्षोंकी छाल, भोजपत्र आदि। '**असनु**'=भोजन। '**कंद**'=जो पृथ्वीसे वर्त्तुलाकार (गोल-गोल) निकलते हैं, 'मूल' जो लम्बे-लम्बे निकलते हैं—(पंजाबीजी, रा० प्र०) पृथ्वीके अन्दर जिनकी उत्पत्ति एक पेड़के ही अनेक मूलों (जड़ों) से ही होती हैं वे मूल कहलाते हैं; जैसे सतालू आदि। जो पृथ्वीके भीतर एक पौधेमें एक ही होता है उसे 'कंद' कहते हैं; जैसे सूरन इत्यादि। '**अशेघ्रिः सूरणः कन्दः**' इति। (अमरकोष)

अर्थ—पृथ्वीपर सोना होगा, वल्कलके वस्त्र धारण करने होंगे और कन्द-फल-मूलका भोजन होगा और वे भी क्या सब दिन सदा मिलेंगे? अर्थात् सब दिन न मिलेंगे। सब समयके अनुकूल मिलेंगे॥६२॥

नोट—१ पृथ्वी ही शय्या होगी। जमीनपर सोनेसे शीत पकड़ लेती है, शरीरमें पीड़ा होती है। भोजपत्र आदिसे घाम, जाड़ा या वर्षाकी निवृत्ति नहीं होती, केवल इन्द्रिय भर ढकना होता है। कन्द-मूल-फल भोजन करना पड़ेगा। १४ वर्षतक अन्न न मिलनेसे शरीर निर्बल और दुर्बल हो जायेगा। फिर ये भी सदा नहीं मिलते इससे कई-कई दिन उपवास करना पड़ जायगा। फल भी जो मिले वह सब समय-समयके अनुकूल मिलते हैं। जाड़ेमें जाड़ेवाले, गर्मीमें गर्मीवाले, वर्षामें वर्षावाले। इनमें बहुत ऐसे हैं कि शीत और वर्षामें कफ उत्पन्न कर देते हैं, ग्रीष्ममें पित्त—यह भोजनका कष्ट है। (पंजाबीजी, पु० रा० कु०)

नोट—२ *'असनु कंद फल मूल'* से यह भी जनाया कि भोजनके लिये खट्टे और कड़ुवे फल-मूल मिलते हैं, वहाँ पूए आदि व्यञ्जन नहीं मिलते। फिर यह भी नहीं कि फल तोड़कर ले लें, तपस्वीका धर्म है कि जो फल वृक्षसे स्वयं गिरे हों उन्हींको ग्रहण करना होता है। यथा—'**फलैर्वृक्षावपतितैः।**' (वाल्मी० २। २८। १२) *'ते कि सदा सब दिन मिलहिं'* अर्थात् जिस समय जितना और जो आहार मिल जाय, उसीपर संतोष करना पड़ता है अतः बन बड़ा दु:खदायी है।

नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट बेष बिधि कोटिक करहीं॥१॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥२॥
ब्याल कराल बिहग बन घोरा। निसिचर निकर नारि नर चोरा॥३॥

शब्दार्थ—**नर अहार**=मनुष्य ही जिनका भोजन है, नराहारी। **अहार**=भोजन, खाना। **रजनीचर**=(रजनी=रात, निशि+चर=चलनेवाले) निशाचर। **लागइ**=लगता है। पानी लगना=पानी इकट्ठा या जमा होना, दाँतों और शरीरको असह्य होना—(रा० प्र०) पानी लगना मुहावरा है, अर्थात् शरीरमें रोग उत्पन्न कर देता है, हानिकारक है। **बिपिन**=वन। **बखान**=विस्तृत वर्णन।

अर्थ—मनुष्योंको खानेवाले निशाचर फिरते रहते हैं। वे करोड़ों अर्थात् अनेक तरहके कपट (बनावटी) वेष धारण करते हैं॥१॥ पहाड़का पानी बहुत ही लगता है। वनके क्लेश बखाने नहीं जा सकते॥२॥ वनमें भयङ्कर सर्प और डरावने पक्षी तथा नर और नारियों (मनुष्यों और उनकी स्त्रियों) को चुरानेवाले भयंकर राक्षसोंके झुण्ड-के-झुण्ड वनमें रहते हैं॥३॥

टिप्पणी—१ *'नर अहार रजनीचर चरहीं।......'* इति। अर्थात् निशाचर रातमें भोजनके लिये निकलते हैं। इससे रातभर जागना पड़ता है। मनुष्योंको वे खा लेते हैं। इनसे रक्षा करना कठिन है; क्योंकि एक तो रातमें सूझता नहीं, दूसरे सूझे भी तो वे बड़े मायावी होते हैं, अगणित प्रकारसे वे कपट वेष बनाकर आते हैं और छलसे मनुष्योंको ले जाकर खा लेते हैं। उनसे रक्षा नहीं की जा सकती। (*'नर अहार रजनीचर......'*, यथा—'**राक्षसा घोररूपाश्च सन्ति मानुषभोजिनः।**' (अ० रा० २।४।६५), *'कोटि बिधि'* जैसे मारीच मृग बना, रावण यती बना, कालनेमि तपस्वी मुनि बना इत्यादि।

नोट—१ (क) *'नर अहार रजनीचर चरहीं' 'निसिचर निकर नारि नर चोरा'* मेंसे पहलेमें मनुष्योंका खा लेना और दूसरेमें उठा ले जाना सूचित किया। पहलेमें नराहारी राक्षसोंका भोजनकी खोजमें फिरना और दूसरेमें भोजनको ले जाना कहा। दो पृथक् बातें हैं। पुनरुक्ति नहीं है। (ख) किसी-किसीने पुनरुक्तिके भयसे यों भी अर्थ किया है कि वनके राक्षस और स्त्री-पुरुष सभी चोर होते हैं, यथा—*'लेहिं न बासन बसन चुराई।'* (ग) *'चरहीं'* पाठ ही प्राचीन सभी पोथियोंमें है। उसका ठीक अर्थ न लगा पानेके कारण आधुनिक प्रतियोंमें टीकाकारोंने *'करहीं'* पाठ कर लिया है। (घ) रावण मायासीताको चुरा ले गया। अहिरावण श्रीराम-लक्ष्मणको ले गया। कालकेतु भानुप्रतापको ले गया इत्यादि उदाहरण हैं। **'चर गतिभक्षणयोः'** धातु है। इसमें दोनों भाव आ गये—चलते हैं और भक्षण करते हैं।

टिप्पणी—२ *'लागइ अति पहार कर पानी।'''''* इति। भोजनका दुःख कह आये। भोजन करनेपर जल पीनेको चाहिये; अतएव अब जलका दुःख कहते हैं। *'अति लागइ'* का भाव यह कि अन्न-भोजन करके पानी पिये तो बीमार पड़ जाय और कन्द-मूल-फल खाकर वहाँका जल पिये तो अत्यन्त लगता है अर्थात् मृत्यु ही हो जाती है। *'नहिं जाइ बखानी'* अर्थात् तो फिर देखी और सुनी कैसे जायेगी?

टिप्पणी—३ *'ब्याल कराल बिहग बन घोरा।'''''* इति। सर्प कराल हैं अर्थात् अजगर आदि मनुष्योंको निगल जाते हैं, विहंग भयानक हैं; आँख निकाल लेते हैं, इत्यादि। शार्दूल आदि पक्षी जीवोंको पकड़कर उड़ जाते हैं। तात्पर्य यह कि तीनों स्थलोंके जीव बाधा करते हैं—व्याल पृथ्वीके, विहंग आकाशके और निशाचर पातालके। पुनः, निशाचर व्यभिचारी होते हैं, इससे स्त्रियोंको चुरा ले जाते हैं और नराहारी हैं इससे पुरुषोंको भी उठा ले जाते हैं। [*'ब्याल कराल'* से जनाया कि इनको देखकर डर लगता है। इनका डसा मनुष्य जी नहीं सकता। ये रास्ता रोककर खड़े हो जाते हैं, वनमें ये निर्भय विचरते हैं। यथा—**'चरन्ति पथि ते दर्पात्।', 'तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानम्'** (वाल्मी० २। २८। १९-२०)]

नोट—२ पंजाबीजी लिखते हैं कि सीताजीको भय दिलानेके लिये 'नारी' का चुराना कहना अभिप्रेत था। पर, अपनी बातको प्रमाणित करनेके लिये उन्होंने 'नर' पद भी दिया। अथवा, यहाँ भावी कह रहे हैं। अथवा, यह अर्थ है कि नर और नारी चोर हैं।

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥ ४॥
हंसगवनि तुम्ह नहिं बन* जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥ ५॥
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥ ६॥

शब्दार्थ—**'गहन'**=वन। **'भीरु'**=डरपोक। **'लवन'** (लवण)=खारा, नमकवाला।

अर्थ—वनके भयंकरताकी सुध (स्मरण) आते ही धैर्यवान् पुरुष भी डर जाते हैं और तुम तो, हे मृगनयनी! स्वभावसे ही डरपोक हो॥ ४॥ हे हंसगामिनी! तुम वनके योग्य नहीं। (तुम्हारा वनगमन) सुनकर लोग मुझे अपयश देंगे अर्थात् मेरा नाम धरेंगे, मुझे बदनाम करेंगे॥ ५॥ मानसरोवरकी अमृत-तुल्य जलसे पाली हुई हंसिनी क्या खारे समुद्रमें जी सकती है? अर्थात् नहीं जी सकती॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ'''* इति। सीताजीका भीरु स्वभाव है। इसीसे *'मृगलोचनि'* सम्बोधन किया। हिरन भी बहुत डरता है। पुनः, दूसरा भाव कि जिस वनकी सुधमात्रसे बड़े-बड़े धीर पुरुष दहल जाते हैं वह वन तुम्हें आँखोंसे देखना पड़ेगा। वे धीर हैं और तुम भीरु, सुधि आनेसे वे भयभीत होते हैं तब तुम इन नयनोंसे देखकर कैसे जी सकती हो?

टिप्पणी—२ *'हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।''''* इति। भाव कि हंसिनी मानससरमें मोती चुगती है,

* पाठान्तर—'तुम कानन जोगू'—पं० रामगुलाम द्विवेदी। 'नाह बन'—भागवतदास, राजापुर, वन्दन पाठक, काशी (रा० प्र०), पं० रामकुमारजी। 'कानन जोगू' में वक्रोक्ति और विषम अलङ्कारसे अर्थ करना होगा—क्या तुम वनके योग्य हो? अर्थात् नहीं।

कमलोंपर चलती है। वैसे ही तुम अयोध्याजीकी सुख भोगनेवाली और पाँवड़ोंपर चलनेवाली हो। वनमें रहने योग्य नहीं। पुन: भाव कि तुम्हारी चाल हंसकी-सी है। इस चालसे तुम कैसे वनमें चलोगी? कैसे पहाड़पर चढ़ोगी? लोग सुनकर हमको अपयश देंगे कि रामजी ऐसी कोमल सुकुमारी स्त्रीको वनमें साथ ले गये, वह वहाँ मर गयी यह अपयश हमको मिलेगा। वनमें तुम्हारा जीना कठिन है यह आगे स्पष्ट कहते ही हैं *'जिअइ कि'*......।'

टिप्पणी—३ *'मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ'*.....' इति। प्रथम हंसगामिनी कहकर वनमें जानेकी अयोग्यता दिखायी और अब *'जिअइ कि लवन पयोधि मराली'* कहकर वहाँ जीना दुर्लभ और असम्भव ठहराया। जो सुन्दर भोगोंका सेवन करता है और जो अत्यन्त कोमल होता है उसे भारी दु:ख बहुत व्याप्त होता है जिससे वह मर ही जाता है। जो सदा दु:ख भोगनेवाला होता है उसे अत्यन्त दु:ख भी नहीं व्याप्त होता है। जैसे खारे समुद्रमें रहनेवाले जीवोंको उसमें दु:ख नहीं होता। (यहाँ मानससरसम अयोध्याजी और मिथिलाजी, खारे समुद्रसम वन, सलिलसुधा अवध, मिथिलाके सुखभोग और खारा जल वनके सभी दु:ख हैं। रा० प्र०)

पंजाबीजी—सुन्दर, कोमलता और भयके विचारसे *'मृगलोचनि'* कहा। हिरन जरामें चौंक पड़ता है। *'हंसगवनि'* से वन जानेकी अयोग्यता और मराली कहकर अभाव दिखाया। आगे कोकिल कहकर शोभाका अभाव कहते हैं।

नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥ ७॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी। चंदबदनि दुखु कानन भारी॥ ८॥

शब्दार्थ—**नव**=नवीन, नया। रसाल=आम। **बिहरनसीला**=विहार करनेवाली, विचरनेवाली, रहनेवाली। **कोकिल**=काले रंगकी एक चिड़िया जो कौवेसे कुछ छोटी होती है और मैदानोंमें वसन्तके आरम्भसे वर्षाके अन्ततक रहती है। बड़ी सुरीली होती है।=कोयल। **करील**—ऊसर और कँकरीली भूमिमें इसकी झाड़ी होती है जिसमें पत्तियाँ नहीं होतीं, केवल गहरे हरे रंगकी पतली-पतली बहुत-सी डण्ठलें फूटती हैं। फागुन-चैत्रमें इसमें गुलाबी रंगके फूल होते हैं। इसके फलको टेंटी कहते हैं जिसका अचार पड़ता है।

अर्थ—नये आमके वनमें विहार करनेवाली कोयल क्या करीलके वनमें शोभा पा सकती है? अर्थात् वहाँ उसकी शोभा नहीं॥ ७॥ ऐसा हृदयमें विचारकर तुम घरपर ही रहो। हे चन्द्रमुखी! वनमें बड़े दु:ख हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'नव रसाल'* कहा क्योंकि आमके नये वृक्ष बहुत शोभित होते हैं। 'करील-वन' को वनकी उपमा दी, 'रसाल-वन' को घरकी, क्योंकि आमके वनमें सुन्दर छाया और फल एवं सुगन्धित फूल होते हैं और करील-वनमें पत्ते नहीं होते। फल-फूल भी सुन्दर नहीं होते।

टिप्पणी—२ *'अस बिचारि'* अर्थात् हम वनके योग्य नहीं हैं, वनमें बहुत क्लेश हैं यह विचारकर। 'भारी दु:ख' का भाव कि साधारण दु:ख होता तो हम तुम्हें ले चलते। *'चंदबदनि'* अर्थात् वनमें तुम्हारे मुखकी शोभा मलिन पड़ जायेगी। [वीर कवि—वक्रोक्तिद्वारा कोयलपर ढारकर यह बात कहना कि सुकुमारी और सुखभोगिनी स्त्रियाँ वनका दु:ख नहीं सह सकतीं 'विशेषनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार' है। रसालवनमें रहनेवाली कोयल करीलवनमें रहे, यह 'विषम अलङ्कार' है। अप्रस्तुत प्रशंसा प्रधान और शेष दोनों उसके अङ्गी हैं।]

दो०—सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥ ६३॥

अर्थ—सहज सुहृद् (स्वभावसे ही हितैषी)* गुरु और स्वामीकी शिक्षा जो सिरपर धारण करके नहीं करता, वह हृदयमें भरपूर पछताता है और उसके हितकी हानि अवश्य होती है॥ ६३॥

* पाँड़ेजी यों अर्थ करते हैं—मित्र, गुरु, स्वामीका सिखावन जो सहज ही सिरपर धरकर नहीं करता।

टिप्पणी—१(क) *'जो न करइ सिर मानि'* से जनाया कि जो इनकी सीखपर चलता है वह बिना क्लेशके धर्मका फल पाता है, यथा—*'गुरु श्रुति संमत ·····।'* और जो आज्ञा पालन नहीं करता वह पछताता है। *'सिर मानि'* का भाव कि इनकी शिक्षा परम धर्म है, यथा—*'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥'* (१। ७७। २)

अतएव शिरोधार्य करके मानने योग्य है। (ख) *'पछिताइ अघाइ उर'*—हृदयमें पछताता है क्योंकि उत्तम शिक्षा न मानी यह अपनी भूल है। अपनी भूल समझकर दूसरेसे कहता नहीं, हृदयमें ही पछताता है। (ग) *'अवसि होइ हित हानि'* इति। भाव कि सुहृद्, गुरु और स्वामी ये हितकी शिक्षा देनेवाले हैं, इनकी शिक्षाके अनुसार न करनेसे हितकी हानि होती है। पुनः इनके वचन अमोघ हैं, व्यर्थ नहीं होते, इसीसे 'अवश्य' हितकी हानि होती है, पश्चात्ताप करना पड़ता है।

नोट—यहाँ जनाते हैं कि इनमेंसे एककी भी सीखपर न चलनेसे हितकी हानि अवश्य होती है और जहाँ तीनोंकी एक ही शिक्षा है वहाँकी हानिका तो कहना ही क्या? इस कथनसे सूचित किया कि यहाँ तीनों तुम्हें यही उपदेश दे रहे हैं। मैं तुम्हारा सहज सुहृद् और स्वामी हूँ और कौसल्याजी गुरु-समान वा बड़ी हैं। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने माता-पिताको गुरु बहुत स्थलोंमें कहा है और श्रीजानकीजीसे ही कहा है—'**अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते। स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥**' (२। ३०। ३३) अर्थात् देवता प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनकी आराधनासे सदा सफलताकी सम्भावना नहीं है। पिता-माता प्रत्यक्ष हैं, वे गुरु हैं। उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके देवाराधन कैसे उचित होगा। अतएव यह आज्ञा तुम्हें माननीय है।

सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के॥ १॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि सरद चंद निसि जैसें॥ २॥
उतरु न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही॥ ३॥

अर्थ—प्यारे पतिके कोमल और मनोहर वचन सुनकर श्रीसीताजीके सुन्दर नेत्र जलसे भर गये॥ १॥ शीतल सीख उन्हें कैसी जलानेवाली (संतप्त करनेवाली) हुई जैसे शरद्-ऋतुकी चाँदनी रात चकवीको (दाहक होती है)॥ २॥ वैदेही श्रीजानकीजीके मुखसे जवाब नहीं निकलता। वे व्याकुल हो गयीं (कि) हमारे पवित्र प्रेमी स्वामी हमें छोड़ना चाहते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के'* अर्थात् सुननेमें कोमल और अर्थ समझनेमें मधुर। पतिके वियोगकी बात सुनकर नेत्रोंमें जल भर आया। इसीसे वक्ता उनके नेत्रोंको *'ललित'* विशेषण दे रहे हैं। उचित अवसरपर नेत्रोंमें अश्रु आना उनकी शोभा है।

टिप्पणी—२ *'सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि·····'* इति। (क) शरद्-ऋतुकी चन्द्रमाकी रात सबको सुखदायी है पर चकईको चकवासे रात्रिमें विछोह होनेके कारण वह शरद्-चन्द्र हृदयमें जलन उत्पन्न करता है। वैसे ही श्रीरामजीकी शिक्षा शीतल है पर उसमें पतिवियोग है, अतएव वह हृदयको दग्ध कर रही है। (ख) रात्रि तो सब दिन शीतल होती है पर शरद्-ऋतुकी रात अत्यन्त शीतल और स्वच्छ होती है, वैसे ही यह सीख अत्यन्त शीतल और स्वच्छ है। मुख चन्द्रमा है। और वचन किरण है।*

'उतरु न आव बिकल बैदेही।·····' इति। *'बैदेही'* पदसे सूचित किया कि व्याकुलतामें देहकी खबर न रही। (पुनः भाव कि विदेहकी कन्या होनेसे इनकी देहबुद्धि तथा देहासक्ति नष्ट हो गयी है। ऐसी देहसुखसे

* अ० दी० च०—'मृदु मनोहर' और 'शीतल सिख' इन शब्दोंको विचारना चाहिये। यदि ये वचन मनको सन्तुष्ट करनेवाले न होते तो ग्रन्थकार 'मृदु मनोहर' विशेषण न देते। 'शीतल सिखावन' से भी हृदयका जुड़ाना मालूम होता है। अतः सन्दर्भ यह है कि श्रीरामजीके वचनसे मन सन्तुष्ट हो गया, हृदय शीतल हो गया। अतः महारानीजी शरीरसे वियोगका दुःख नहीं अनुभव करती हैं, केवल वचनसे (अनुभव करती हैं) जो आगे लिखा भी है।

पूर्ण उदासीन रहनेवाली होनेपर भी वे व्याकुल हो गयीं। उस दुःखकी कल्पना करना भी असम्भव है। प० प० प्र०) स्वामीको *'सुचि सनेही'* विशेषण देनेका भाव कि शुचि हैं इसीसे उन्होंने पवित्र सिखावन दी और स्नेही हैं इसीसे हमपर तथा मातापर स्नेह होनेके कारण यह सोच-विचार करके कि मैं वनमें दुःख पाऊँगी, दूसरे यह कि घरपर रहनेसे माताको अवलम्ब होगा मुझे घरपर छोड़ना चाहते हैं। *'एहि तें अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥'*—यह पवित्र उपदेश है—[*'सुचि स्वामि सनेही'* से जनाया कि अन्य वा औरोंके स्वामी अशुचि हैं। (खर्रा) 'शुचि' से श्रीरामजीके शीलका निर्देश किया। (प० प० प्र०) अथवा, पवित्र परम स्नेही होकर भी इन्होंने लौकिक धर्मका उपदेश दिया, मेरी अनन्यतापर दृष्टि न डाली, मैं वियोगमें मर जाऊँगी यह विचारकर दया न की, मुझे त्यागकर चल देना चाहते हैं; अतः विकल हुईं। (वै०)]

वि० त्रि०—उत्तर देना चाहती हैं। पर गद्गदकण्ठ हैं, धैर्य छूटा हुआ है, विकल हैं, इसलिये दे नहीं रही हैं। विकलताका कारण यह है कि उन्होंने समझ लिया कि स्वामिधर्मसे विचलित न होनेवाले प्रभु मुझे साथ नहीं ले जाना चाहते। इनका स्वामिधर्म और स्नेहाधिक्य ही मेरे वनगमनमें बाधक हो रहा है।

बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरजु उर अवनि-कुमारी॥ ४॥
लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देबि बड़ि अबिनय मोरी॥ ५॥

शब्दार्थ—**बरबस**=जबरदस्ती, बलपूर्वक, हठात्। **अवनिकुमारी**=पृथ्वीकी कन्या, श्रीजानकीजी। **पगु लागि**=पास जाकर=पैर छूकर (मुहावरा है—पयलगी करना, पैर लगना)। **छमबि**=क्षमा करना। **अविनय**=ढिठाई।

अर्थ—नेत्रोंके जलको बरबस रोककर भूमिजा श्रीसीताजी हृदयमें धीरज धर सासके पैर लगकर हाथ जोड़कर कहने लगीं—हे देवि! मेरी इस बड़ी ढिठाईको क्षमा कीजिये॥ ४-५॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकु०— *'बरबस रोकि बिलोचन बारी।'''* इति। (क) नेत्रोंमें जो जल भर आया था, यथा—*'लोचन ललित भरे जल सिय के'*, वह रोके नहीं रुकता था, अतः बरबस रोकना कहा। (ख) *'धरि धीरजु उर अवनि कुमारी'*—हृदयमें शीतल उपदेशसे दाह उत्पन्न हो गया था उसे सहकर धीरज धारण किया; अतएव यहाँ *'अवनिकुमारी'* नाम दिया। धीरज धारण करना और सहन करना पृथ्वीके गुण हैं इसीसे पृथ्वीका 'सर्वसहा' भी एक नाम है। उनकी कन्यामें भी ये गुण होने ही चाहिये। [स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि धैर्य धारण करनेमें धरणि (धरा) का प्रयोग किया गया है। यथा—*'धरनिसुता धीरज धरेउ समउ सुधरमु बिचारि।'* (२८६) यदि 'अवनि' की जगह 'धरा' शब्द लिखते तो अनुप्रासकी सुन्दरता भी बढ़ जाती। *'उर धरि धीरज धराकुमारी'* लिख सकते थे। ऐसा न करके *'अवनिकुमारी'* शब्द देनेमें भाव यह है कि अवनि=रक्षण करनेवाला। ('अवन' शब्दका अर्थ रक्षण है। यथा—*'सीय सोच समन दुरति दोष दवनु सरन आये अवन लषन प्रिय प्रान सो।'* (बाहुक) उसीसे 'अवनिका' यह अर्थ किया जान पड़ता है) रक्षण करनेवालेकी कुमारी हैं अतः धर्म और अवनि (पृथ्वी) की रक्षाके लिये वनमें जानेका हठ करती हैं। श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि पृथ्वीकी कन्या कहा क्योंकि इनमें भी पृथ्वीके समान क्षमा है।]

टिप्पणी २—*'लागि सासु पग कह कर जोरी।'''* इति। श्रीरामजी माताके समीप श्रीसीताजीसे बोलनेमें सकुचे थे, यथा—*'मातु समीप कहत सकुचाहीं।'* (६१। १) वैसे ही श्रीसीताजी श्रीरामजीसे बातें करनेमें सकुचती हैं। इसीसे वे पैरों पड़, हाथ जोड़, क्षमा माँगती हैं कि आपके सामने पतिसे बात करती हूँ, यह बड़ी ढिठाई है, अनीति है, इसे क्षमा करना। (आपने ही उनको अपने सामने शिक्षा देनेको कहा, उन्होंने शिक्षा दी। उत्तरमें मुझे भी आवश्यक हुआ, नहीं तो न बोलती। (पंजाबीजी)

दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परम हित होई॥ ६॥
मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥ ७॥

अर्थ—मुझे प्राणपतिने वही शिक्षा दी है जिस प्रकार मेरा परम कल्याण हो॥ ६॥ मैंने भी मनमें विचार देखा कि पतिके वियोगके समान संसारमें कोई दुःख नहीं॥ ७॥

वि० त्रि०—सरकारने तो सङ्कोचसे 'प्रिये' सम्बोधन नहीं किया, पर भगवती *'प्राणपति'* कहनेमें सङ्कोच नहीं कर रही हैं। क्योंकि इसी एक शब्दमें सब बातोंका उत्तर है। भाव यह कि प्राणपतिके बिना तो प्राण ही नहीं रहेगा, उपदेशका पालन कौन करेगा? उपदेश निर्दोष है, उसीमें मेरा परमहित निहित है। मैंने उसे सुना-समझा, और विचारा तो यही निश्चय हुआ कि पति-वियोग-जन्य दुःख ही सबसे बड़ा है। स्त्रीको स्त्रीके भावके समझनेमें बहुत कहना नहीं पड़ता, अतः कौसल्याजीके लिये इतना उत्तर यथेष्ट था। अब सरकारसे कहती हैं।

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) *'प्राणपति'* का भाव कि ये हमारे प्राणोंके स्वामी, मालिक और रक्षक हैं, इनके बिना हमारे प्राण न रहेंगे। पुनः उन्होंने वह सीख दी जिससे मेरे प्राणोंकी रक्षा हो और परम हित हो। अतः *'प्राणपति'* शब्द दिया। [पुनः, ये सत्य ही प्राणके पति हैं। प्राणके प्राण हैं इनके बिना प्राण न रहेंगे; और लोग कहनेभरको प्राणपति हैं। वस्तुतः वे देहके पति हैं। (पण्डितजी)] (ख) परमहित जिससे लोक-परलोक दोनों बनें। *'जेहि बिधि मोर परमहित होई'* का भाव कि पतिव्रताका धर्म है कि पतिके वचनमें परम हित माने, उसका आदर करे, अतएव उनके वचनोंको *'परमहित'* कहा। आगे अपने हृदयकी बात कहती हैं। (ग) *'जेहि बिधि'* अर्थात् जिसमें हमारा परमहित हो, वही कहा, यथा—*'गुर स्रुति संमत धरम फल पाइय बिनहिं कलेस।'* (६१) और परमहित होनेकी विधि भी कही कि घरमें रहो, सास-ससुरके पदकी पूजा करो, यथा—*'एहि तें अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥'*, *'सब बिधि भामिनि भवन भलाई'*—परमहित होनेकी विधि यही है।

२—*'मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं।'''* इति।—यह कहकर कौसल्याजीको उन्होंने निरुत्तर किया। अब इसके प्रत्युत्तरमें वे कुछ न कह सकेंगी; क्योंकि पतिव्रताके धर्मको वे जानती हैं कि यही है जो जानकीजी कह रही हैं। पहले कौसल्याजी बोली थीं, अतएव पहले उन्हींसे बात की। आगे अब श्रीरामजीसे विनय करती हैं।*

☞ देखिये श्रीअम्बा जनकनन्दिनीजूकी व्याकुलताका प्रभाव हमारे पूज्य भक्त कविजीपर भी कैसा पड़ा। चार चौपाइयोंका क्रमभङ्ग ही तो हो गया।

नोट—*'मैं पुनि समुझि दीखि'* में (वाल्मी० २। २७। १०) **'अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि संप्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया॥'** का भाव भी आ जाता है। अर्थात् माता-पिताद्वारा अनेक बार आदेश मिल चुका है, मुझे इस समय क्या कर्तव्य है मैं जानती हूँ, इस विषयमें मुझे उपदेश न दें। अ० रा० की ज्योतिषीवाली बात कि तुम पतिके साथ वन जाओगी और समस्त रामायणोंवाली बात कि सीता सभीमें श्रीरामके साथ गयी हैं भी *'समुझि मन माहीं'* में खींचकर ले सकते हैं। वाल्मी० में भी लक्षण बतानेवाले भिक्षुकी, सामुद्रिककी बात कही है। (२। २९। ९। १३)

दो०—प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥ ६४॥

शब्दार्थ—**'करुनायतन'**=(करुणा+आयतन=घर, स्थान) दयानिधान।

* अ० दी० च०—'इन अर्धालियोंमें आन्तरिक भाव यह है कि प्राणपतिने मुझे यही शिक्षा दी है जिससे मेरा परमहित हो अर्थात् स्त्रीका परमहित पतिके साथ ही है। फिर मैं भी यही विचारती हूँ कि पियवियोग दुःखकी सीमा है। अतएव मैं नित्य पतिके साथ रहकर सुखपान करना चाहती हूँ। २—जैसे श्रीरामजीके वचनोंका आन्तरिक भाव दूसरा है वैसे ही श्रीजानकीजीने चार दोहोंमें उत्तर दिया है वह भी गूढ़ है, उसमें आन्तरिक भाव दूसरा ही है।'

अर्थ—हमारे प्राणोंके स्वामी, करुणाके स्थान, सुंदर सुखके दाता, सुजान और रघुकुलरूपी कुमुदिनीके (खिलाने, प्रफुल्लित करनेवाले) चन्द्रमा! आपके बिना स्वर्ग भी नरकके समान है॥ ६४॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ आप प्राणके नाथ हैं, अतएव प्राणोंके सुखदाता हैं और करुणायतन हैं, अतः तनके सुख देनेवाले हैं। सुन्दर हैं अतः नेत्रोंको सुखद हैं, सुजान हैं अतः मनको सुख देनेवाले हैं अर्थात् सेवकके मनकी बात जानकर आप उसके मनोरथको पूरा करते हैं। अथवा आप प्राणनाथ हैं, हमारे प्राणोंकी रक्षा कीजिये। आपके बिना मेरे प्राण न रहेंगे। आप करुणायतन हैं, मुझपर करुणा कीजिये। [करुणाके स्थान होकर आपको ऐसी निष्ठुर दयारहित बात न कहनी चाहिये। (रा० प्र०)] सुन्दर और सुखद हैं अतः मुझे साथ ले चलकर दर्शनका आनन्द दीजिये। (यहाँ रखकर दुःख न दीजिये। रा० प्र०) सुजान हैं, मेरे हृदयकी जानते हैं कि आपके बिना मुझे स्वर्ग नरकके समान दुःखदायी है। आपके वियोगमें मेरे प्राण न रहेंगे। २—*'रघुकुल-कुमुद बिधु'*—रघुकुल रघुवंश एवं रघु (जीव)—कुल अर्थात् जीवमात्रके सुख देनेवाले हैं और मैं तो आपकी दासी हूँ; अतएव मुझे सुख दीजिये। *'सुरपुर नरक समान'* से सूचित करती हैं कि वियोगमें सुरपुर नरकके समान है और आपके संयोगसे वन भी स्वर्गके समान होगा (भाव यह कि जिसके बिना वैकुण्ठ नरकके समान दुःखदायी हो जाता है उसको साथ रहकर वनका दुःख सहने ही योग्य है। (पण्डितजी)

बाबा हरिहरप्रसादजी—१ रामजीने जो वचन कहे हैं *'आपन मोर नीक जो चहहू।'* से लेकर *'सब बिधि भामिनि भवन भलाई'* तक उनका उत्तर यहाँसे प्रारम्भ हुआ। श्रीरघुनाथजीने घरको सुखदायी कहा उसका उत्तर है *'सुरपुर नरक समान।'*

नोट—१ अ० रा० के '**कथं मामिच्छसे त्यक्तुं धर्मपत्नीं पतिव्रताम्। त्वदनन्यामदोषां मां धर्मज्ञोऽसि दयापरः॥**' (२।४।७१-७२) में *'प्राननाथ करुनायतन'* का भाव है। *'सुरपुर नरक समान'* में (वाल्मी० २।२७। २१)—'**व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः। स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव। त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये॥**' (तथा २।३०।१८)—'**यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना। इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह॥**' का सब भाव आ गया कि आपके बिना यदि स्वर्गमें भी रहना पड़े तो वह स्वर्ग भी मुझे पसन्द नहीं आपके साथ जिस स्थानपर रहना हो वही मेरे लिये स्वर्ग है और आपके बिना जहाँ रहना हो वह नरक है। इस प्रकारका मेरा निश्चय जानकर आप मुझे साथ ले चलें।

नोट—२ प० प० प्र०—प्रभुने *'गुर श्रुति संमत धर्म फल पाइअ बिनहि कलेस'* कहकर सूचित किया था कि इससे बिना क्लेशके स्वर्गकी प्राप्ति होगी। उसीपर श्रीजानकीजी कहती हैं कि *'सुरपुर नरक समान।'* अर्थात् पति-विहीन (पति-विरहमें) रहनेसे स्वर्ग प्राप्त होगा, पर वह स्वर्ग भी मुझे तथा अन्य पतिव्रताओंको नरकके समान ही होगा, तब अवधके सुखोंकी बात ही क्या?

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥ १॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥ २॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते तातें॥ ३॥

शब्दार्थ—'**समुदाई**'=समूह, समुदाय। **सजन**=सम्बन्धी, नातेदार, मान्य लोग। **सहाई**=सहायता करनेवाले सहायक। **तातें**=गर्म, तप्त। **नाते**=सम्बन्ध।

अर्थ—माता, पिता, बहिन, प्यारा भाई, प्यारा परिवार, सुहृद् (मित्र, उपकारकर्ता) समुदाय, सास, ससुर, गुरु एवं स्वजन, मान्य नातेदार (जैसे दामाद, फूफा, बहनोई और भी अन्य मान्य), सहायक, सुन्दर, सुशील और सुख देनेवाला पुत्र आदि, हे नाथ! जहाँतक प्रेम और नाते हैं वे सब स्त्रीको पतिके बिना सूर्यसे भी अधिक तप्त अर्थात् ताप देनेवाले हैं॥ १—३॥

टिप्पणी—(क) *'सुरपुर नरक समान'* कहकर स्वर्गके सुखोंका खण्डन किया। अब इस लोकके सुखोंका

खण्डन करती हैं। यथा—*'मातु पिता भगिनी·····।'* पहले *'माता पिता···सुहृद समुदाई'* में नैहर (मायके) के सुखका खण्डन किया। क्योंकि माता, पिता, बहिन, भाई····ये सब मायकेके हैं। फिर *'सासु ससुर ····'* में ससुरालके सुखका खण्डन किया। क्योंकि सास, ससुर, ज्येष्ठ, दामाद, पुत्र ये सब नाते ससुरालमें हुए। (ख) जितने नाते *'मातु'* से *'सहाई'* तक यहाँ कहे वे सब क्रमसे कहे। माताका गौरव पितासे अधिक, पिता बहिनसे अधिक, बहिन भाईसे, इत्यादि। इसी तरह ससुरसे सास अधिक, सजनसे गुरु अधिक। प्रमाण—**'उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्त्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥'** इति मनुः। पुत्र शरीरसे सुन्दर हो, सुशील हो अर्थात् सबका मुलाहिजा माने और सुखदाता अर्थात् सेवक हो। [(ग) यहाँ केवल भाईके साथ प्रिय विशेषण देकर मनुष्यस्वभावका एक मर्म सूचित किया है। वह यह कि माता-पिता और बहिन सहज सुहृद् तो होते ही हैं, पर विवाहित भगिनीपर सब भाइयोंका प्रेम होगा ही ऐसा नियम नहीं है। और परिवार भी सदा प्रेम करेगा या नहीं यह भी नियम नहीं, इसीसे इसके साथ भी 'प्रिय' विशेषण लगा दिया। यहाँ *'सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख···'* का खण्डन करती हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें।'* इति। (क) प्रथम चार चरणोंमें विशेष नातेवालोंको पृथक्-पृथक् कहा अब जो सामान्य नाते हैं उन्हें कहती हैं—*'जहँ लगि ·····नातें।'* स्नेहवाले और नातेदार भिन्न-भिन्न हैं; इसलिये इन दोनोंके बीचमें *'अरु'* पद दिया। (ख) *'पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते तातें।'* भाव कि जैसे जबतक जल रहता है तबतक सूर्य कमलको सुख देता है जब जल न रहा तब ताप देता है वैसे ही जबतक स्त्रीके पति हैं तबतक सब नातेदार सुख देते हैं। जब पति नहीं रहता तब सब ताप देते हैं अर्थात् देखकर सब जलते हैं, मनाते हैं कि यह मर जाय तो अच्छा हो। (ग) सूर्य १२ हैं; इसीसे यहाँ १२ नातेदार गिनाये।

रा० प्र०—*'पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते तातें'* इसमें यह ध्वनि है कि यही पातिव्रत्य धर्म विचारकर कौसल्याजी घरमें रह गयी हैं। अतएव मुझे भी साथ ले चलिये।

नोट—(वाल्मी० २। २७) में जो श्रीसीताजीने कहा है—**'आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा। स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥ (४) भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ। अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥ (५) न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥'** (६) अर्थात् पिता, माता, भाई, पुत्र तथा पुत्रवधू ये सब अपने-अपने कर्मके अनुसार दुःख-सुख भोगते हैं। एक स्त्री ही पतिके कर्मफलोंकी भागिनी है। अतएव आपके लिये जो वनवासकी आज्ञा हुई वह मेरे लिये भी हुई। पिता, पुत्र, माता और सखियाँ कोई भी स्त्रियोंके लिये न तो इस लोकमें और न परलोकमें सहायक हो सकते हैं, केवल एक पति ही स्त्रियोंके लिये इहलोक तथा परलोकमें गति है, वही आश्रय है।—वे सब भाव *'जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें।···'* इन चरणोंमें आ जाते हैं। फिर भी *'तरनिहुँ ते तातें'* की जोड़में ये श्लोक नहीं ठहर सकते।

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥ ४॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥ ५॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**भारू**=बोझ। **यम यातना**=यमराजके दूतोंकी दी हुई पीड़ा, नरककी पीड़ा।

अर्थ—तन, धन, धाम (घर), पृथ्वी, नगरका राज्य वा नगर और राज्य पति-विहीन (पतिरहित, पतिके बिना) स्त्रीके लिये ये सब शोकके समाज हैं (अर्थात् इसको देख-देखकर उसके हृदयमें शोक उत्पन्न होता है)॥ ४॥ भोग रोगके समान है। भूषण बोझके और संसार* यमयातनाके समान है अर्थात् पीड़ा पहुँचाते हैं॥ ५॥ हे प्राणनाथ! आपके बिना मुझे संसारमें कहीं कुछ जरा भी सुखद नहीं है॥ ६॥

* अर्थात् संसारके व्यवहार हँसना, बोलना इत्यादि यमयातनासे अधिक हैं। (पांडेजी)

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—धन, धाम, पृथ्वी आदि सब सुख तनके लिये किये जाते हैं; अतएव *'तन'* को प्रथम कहा।

टिप्पणी—२—*'भोग रोग सम'* इति। भोगसे सुख होता है। वही भोग पतिके बिना रोगके समान दुःखदाता हो जाता है। भूषण पहिननेसे शोभा होती है, पर विधवा स्त्री गहने पहिने तो शोभा नहीं देती, सभी नाम धरते हैं, इसीसे वह बोझ-सदृश है। [*'भोग रोग सम ……'*—जो प्रभुने कहा था कि *'भूमि सयन बलकल बसन असन कंद फल मूल।', 'नव रसाल बन बिहरन सीला।……'* उसीपर कहती हैं कि धन, धाम आदि, स्वादिष्ट भोजन, दिव्य वस्त्र, भूषण, तैल, सुगन्ध, कोमल शय्या आदि जितने भी भोग अर्थात् सुखके पदार्थ हैं ये सब पतिविहीन स्त्रीके लिये नहीं हैं, उसके लिये तो ये रोगके समान हैं। इन भोगोंसे पाप होते हैं जिससे पीछे अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और संसारके यावत् व्यवहार हैं वे सब यम-साँसतिके समान हैं। भाव यह कि साथ रहकर वल्कल वस्त्र, कन्दमूलफल, भूमिशयन ही सुख देनेवाले होंगे; अतः साथ ले चलिये।]

टिप्पणी—३—*'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं'* इति। (क) *'कतहुँ'* अर्थात् मायकेमें, ससुरालमें और अन्य किसी स्थलमें भी। यहाँतक अपना हाल कहा आगे संसारकी स्त्रियोंका हाल कहती हैं। [अथवा *'मातु पिता भगिनी'* से लेकर *'जम-जातना सरिस संसारू'* तक साधारण स्त्रियोंपर कहा, आगे *'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं।'* यह विशेषकर अपने ऊपर कहती हैं। *'कतहुँ कछु नाहीं'* अर्थात् और किसीको सुखदायी हो तो हो पर मुझको तो बिलकुल नहीं है। (रा० प्र०)]

जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥ ७॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधुबदन निहारें॥ ८॥

अर्थ—जैसे बिना जीवके देह और बिना जलके नदी, वैसे ही हे नाथ! पुरुषके बिना स्त्री है॥ ७॥ हे नाथ! आपके साथ रहकर आपका शरद्ऋतुके निर्मल चन्द्रमाके समान मुख देखनेसे मुझे सब सुख प्राप्त है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'जिय बिनु …… बारी। ……'* इति। बिना जीवके देह अशुद्ध है, बिना जलके नदी अशोभित है। पुनः, बिना जीवके देहका नुकसान है अर्थात् बिना जीवके देह नहीं रहती, जीवके साथ ही रहेगी। वैसे ही बिना आपके यह देह नहीं रह सकती, आपके संयोगमें ही रह सकती है। बिना जलकी नदीसे दूसरेका नुकसान है क्योंकि नदी दूसरोंके लिये बहती है, यथा *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* वैसे ही आपके बिना मेरे शरीरसे दूसरेका कुछ उपकार नहीं हो सकेगा; तात्पर्य कि आप जो आज्ञा दे रहे हैं कि सासु-ससुरकी सेवा करो, पूजा करो, यह मुझसे न होगा। श्रीरामजीने जो धर्मका उपदेश दिया था कि *'एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा'* उसका उत्तर यहाँतक दिया कि स्त्रीका धर्म पतिकी सेवा है, उसका और कोई धर्म नहीं, यथा—*'एकइ धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥'* (आ० ४) श्रीरामचन्द्रजीने वनके दुःख कहे, उसका उत्तर आगे देती हैं—*'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।……'*

श्रीनंगेपरमहंसजी—यहाँ पुरुषरहित स्त्रीके लिये दो उदाहरण दिये गये हैं। एक बिना प्राणके देहका, दूसरा बिना जलके नदीका। इनका भाव यह है कि जब स्त्रीका पतिसे वियोग होता है तब उसके लिये दो क्रियाएँ हैं। एक तो यह कि वह पतिके साथ अपना प्राण दे देती है अर्थात् सती हो जाती है—यह पतिव्रता स्त्रियोंकी क्रिया है। यदि यह न हुआ तो ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करके अशोभित रूपसे शरीरान्त कर देती है। यह दूसरी क्रिया है। अतः पतिव्रताके लिये *'जिय बिनु देह'* कहा और ब्रह्मचर्य क्रियाके लिये *'बिनु बारी'* की नदी कहा। पर श्रीसीताजीने अपने लिये *'जिय बिनु देह'* का ही निश्चय किया था। यथा—*'चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥ की तनु प्रान कि केवल प्राना।'*

प० प० प्र०—निर्जीव देह प्रेत-शव ही है। जहाँ वह रहती है वह स्थान अपवित्र रहता है। उसके

दर्शनसे घृणा होती है। वैसे ही बिना पतिके स्त्री घृणित, तिरस्कृत, अपवित्र, मृतक समान हो जाती है तब वह किसीकी सेवा कर सकेगी, किसको सुख दे सकेगी। जबतक नदीमें जल रहता है तबतक वह पवित्र, सुखदायी, उपकारक इत्यादि होती है। जलका अभाव होनेपर फिर उसे कोई नहीं मानता, उसके सभी गुणोंका अभाव ही होता है। नदीका नदीत्व जलसे ही है। एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव होगा।

वि० त्रि०—देह बड़े कामकी चीज है, साधन-धाम मोक्षका द्वार है; परंतु अभीतक जबतक कि उसका जीवका साथ रहे। जीवसे वियोग होनेपर वही देह अमङ्गलमय और व्यर्थ हो जाता है। नदी बड़े कामकी वस्तु है, बड़े-बड़े नगर उसीके आश्रयसे बसे हुए हैं, पर तभीतक जबतक कि उसमें जल है, जल न होनेसे वही व्यर्थ और भयानक हो जाती है। उससे किसीका काम नहीं निकलता। यही दशा स्त्रीकी है, पतिका साथ होनेसे ही वह मङ्गलमय है, गृहलक्ष्मी है, उससे संसारका व्यवहार चलता है, पर पतिका साथ न होनेसे वही स्त्री अमङ्गलमय हो जाती है, व्यर्थ हो जाती है, भयानक हो जाती है, उससे किसीका काम नहीं निकलता। वह क्या किसीकी सेवा करेगी और क्या पुरानी कथा कहकर किसीको समझावेगी।

टिप्पणी—२ '*नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। ....*'—भाव कि बिना साथके कहीं किसीसे सुख नहीं और साथमें सभी सुख हैं। शरद-बिमल-बिधु-बदन निहारनेसे सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। भाव यह कि बिना आपके सब नातेदार मुझे सूर्यके समान तापदाता हैं और आपका मुखचन्द्र देखनेसे मैं शीतल हो जाती हूँ। सकल सुख क्या हैं, यह आगे कहती हैं।

पाँड़ेजी—'***सकल सुख***' का भाव कि जो आपने सम्पूर्ण दुःख वर्णन किये हैं वे सब आपके साथ हमें सुख (रूप) हैं। जिसके विक्षेप वा वियोगमें इतना दुःख है कि राज, भोग, भूषण आदि सब दुःखरूप हो जाते हैं तब तो उसकी प्राप्तिमें कैसा बड़ा सुख होगा, यह स्वयं विचार देखिये।

दो०—खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुखमूल॥ ६५॥

अर्थ—हे नाथ! आपके साथ पक्षी-पशु कुटुम्बीके समान, वन नगरके, भोजपत्र आदि पेड़ोंकी छाल निर्मल वस्त्रके और पर्णकुटी देवताओंके लोकोंके समान सुख देनेवाले होंगे॥ ६५॥

नोट—१—प्रथम पतिके बिना परिजन-नगर आदिको जानकीजीने शोकसमाज करार दिया और अब पतिके साथ इन्हींको सुखसमाज कहती हैं।

नोट—२—पर्णशालके साथ सुखमूल विशेषण देनेका भाव यह कि पर्णशालको सुरसदनके समान कहा। सुरसदनमें रहनेसे पुण्य क्षीण होते हैं। फिर सुखका नाश होता है। पर आपके साथ पर्णकुटीमें रहनेसे सुकृत बढ़ते हैं, सुकृतसे सुख बढ़ता है।

नोट—३—'*बिमल दुकूल*' का भाव—मैले वस्त्र पहिनना मना है। और श्रीरामजी कह चुके हैं कि वल्कल वस्त्र पहिनना पड़ेगा। इसीपर वे कहती हैं कि वल्कल निर्मल वस्त्रके समान पवित्र और सुखदायक है। भाव यह कि मैं वल्कल धारण करूँगी, पर्णकुटीमें रहूँगी, मुझे साथ ले चलिये।

बनदेवी बनदेव उदारा। करिहहिं सासु ससुर सम सारा॥ १॥
कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥ २॥
कंद मूल फल अमिअ अहारू। अवध सौंध सत सरिस पहारू॥ ३॥

शब्दार्थ—**उदार**=दानशील, जो संकीर्ण-चित्तका न हो, श्रेष्ठ। **सार**=रक्षा, पालन। **किसलय**=नया निकला हुआ पत्ता, कोमल पत्ता, कल्ला। **सौंध**=राजमहल—**'सौंधोऽस्त्री राज्यसदनम्'** (अमरकोश)। **साथरी**—नोट २ में देखिये।

अर्थ—वनके देवी और देवता उदार हैं। वे सास-ससुरकी तरह मेरा पालन करेंगे॥ १॥ कुश और पेड़ोंके

पत्तेकी सुन्दर साथरी प्रभुके साथमें सुन्दर कामदेवकी तोषकके समान होगी॥ २॥ कन्द, मूल, फलका आहार (भोजन) अमृतके समान होंगे और पहाड़ अवधके सौ राजमहलोंके समान (सुखदायक) होंगे॥ ३॥

नोट—१ *'बनदेवी बनदेव उदारा। ""'* इति। उदार कहनेका भाव कि (क)—मनुष्य आदि चेतन जीवोंपर तो दया सभी करते हैं, पर ये स्थावरपर निर्हेतु दया करते हैं। ये वनस्पतिका पालन-पोषण करते हैं और उनको फल-फूलसे सम्पन्नकर अगणित जीव-जन्तुओंका उपकार करते हैं। (ख)—अन्य देवता पूजा लेकर तब मनुष्योंपर कृपा करते हैं और ये निर्हेतु उनको भी फल-फूल देते हैं। (ग)—स्वर्गके विषय-सुखको छोड़ वनमें आ बसे हैं। (पंजाबीजी, रा० प्र०)

नोट—२ पलास आदिके नये-नये पत्तोंको सुखाकर तोषक-सा सेज बनाते हैं, इसे 'साथरी' कहते हैं। यह बड़ी कोमल होती है। इसी कारण इसकी कामदेवकी तोषक वा सेजसे उपमा दी। यह श्रीरामजीके *'भूमि सयन बलकल बसन'* का उत्तर है।

नोट—३ *'कुस किसलय""पहारू'* इति। मिलान कीजिये—*'कहौ तुम्ह बिनु गृह मेरो कौन काजु। बिपिन कोटि सुरपुर समान मोको जो पै पिय परिहर्यो राजु॥* (१) *बलकल बिमल दुकूल मनोहर कंद मूल फल अमिय नाजु।'* (गी० २। ७)

टिप्पणी—१ *'कंदमूल फल अमिअ अहारू।'* इति। श्रीरामजीने कहा था कि वनमें फल, मूल, कन्द भोजन है, उसीपर कहती हैं कि यह तो अमृतके समान आहार है। और जो कहा था कि *'मारग अगम भूमिधर भारे'* भारी पहाड़ मिलेंगे उसका उत्तर देती हैं कि भारी पहाड़ अयोध्याजीके महलोंके समान हैं। *'अवध सौंध सत'* का भाव कि कौसल्याजीने कहा था कि *'जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥'* इसीसे जानकीजी भी पहाड़को 'शत' राजमहलके समान कहती हैं। *'कंद मूल फल अमिअ अहारू'* में वाचक लुप्तोपमा है।

नोट—४ *'नाथ साथ सुरसदन सम परनसाल सुखमूल'* से *'कंदमूल फल अमिअ अहारू'* तक स्वर्गके सुखकी उपमाएँ दीं। पर्णशाल सुरसदन, पर्णसाथरी कामतुराई, कन्द मूल फल अमृत।

'अवध सौंध सत सरिस पहारू'

'दाम्पत्य प्रेमका दृश्य भी गोस्वामीजीने बहुत सुन्दर दिखाया है, पर बड़ी ही मर्यादाके साथ। नायिका भेदवाले कवियोंका-सा, या श्रीकृष्णकी रासलीलाके रसिकोंका-सा लोक-मर्यादाका उल्लंघन उसमें नहीं है। श्रीसीतारामके परमपुनीत प्रणयकी जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिलामें की, उसकी परिपक्वता जीवनकी भिन्न-भिन्न दशाओंके बीच पति-पत्नीके सम्बन्धकी उच्चता और रमणीयता संगठित करती दिखायी देती है। अभिषेकके रामको वन जानेकी आज्ञा मिलती है। आनन्दोत्सवका सारा दृश्य करुणादृश्यमें परिणत हो जाता है। राम वन जानेको तैयार हैं और बनके क्लेश बताते हुए (श्री) सीताजीको घर रहनेके लिये कहते हैं। इसपर सीताजी कहती हैं—*'बन दुख नाथ कहे बहुतेरे।'* *'लागिहि तात बयारि न मोही।'*

दु:खकी परिस्थितिमें सुखकी इस कल्पनाके भीतर हम जीवनयात्रामें श्रान्त पथिकके लिये प्रेमकी शीतल सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेममार्ग निराला नहीं है। जीवनयात्राके मार्गसे अलग होकर जानेवाला नहीं है, यह प्रेम कर्मक्षेत्रसे अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काँटोंपर फूल बिछाता है। (श्री) रामजानकीको नंगे पाँव चलते देख ग्रामवासी कहते हैं—*'जौ जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥'* थोड़ी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका मार्ग *'सुमनमय'* है। प्रेमके प्रभावसे जंगलमें भी मङ्गल था। (श्री) सीताजीको तो सहस्रों अयोध्याका सुख वहाँ मिल रहा था—*'नाह नेह नित बढ़त बिलोकी।'*

अयोध्यासे अधिक सुखका रहस्य क्या है? प्रियके साथ सहयोगके अधिक अवसर। अयोध्यामें सहयोग और सेवाके इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे? जीवन-यात्राकी स्वाभाविक आवश्यकताओंकी पूर्ति वनमें अपने हाथोंसे करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कन्द-मूल

इकट्ठा करना इत्यादि वहाँके नित्य जीवनके अङ्ग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवनमें प्रेमका जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम-जीवनमें दुर्लभ है। प्रियके प्रयत्नोंमें ऐसे ही स्वाभाविक सहयोगकी अभिलाषिणी एक ग्रामीण नायिका कहती है—*'आगि लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन। पियके साथ घइलवा भरि भरि दीन॥'* दूसरा कारण इस सुखका था हृदयका प्रकृतिके अनेक रूपोंके साथ सामञ्जस्य; जिसके प्रभावसे 'कुरंग-बिहंग' अपने परिवारके भीतर जान पड़ते हैं। उस जगज्जननी जानकीका हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा, जिसे एक स्थानपर लगाये हुए फूल-पौधोंको छोड़कर दूसरे स्थानपर जाते हुए भी दुःख होता था।

छिनु छिनु प्रभुपद कमल बिलोकी। रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥ ४॥
बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥ ५॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥ ६॥

शब्दार्थ—**लवलेस**=जरा भी, कुछ भी, नाममात्र। **कोकी**=चकवी, चकोरी।

अर्थ—क्षण-क्षण, पल-पलपर आपके चरणकमलोंको देखकर मैं ऐसी प्रसन्न रहूँगी जैसे दिनमें चकवी हर्षित रहती है॥ ४॥ हे नाथ! आपने वनके बहुत दुःख कहे, बहुत-से भय, विषाद और क्लेश कहे॥ ५॥ पर, हे कृपानिधे! ये सब दुःख, भय इत्यादि मिलकर भी आपके वियोग-दुःखके लवलेशके समान भी नहीं होते अर्थात् वियोग-दुःख इन सबके समूहसे कहीं बढ़कर है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'छिनु छिनु प्रभुपद कमल…'* इति। भक्तलोग भगवान्‌को क्षण-क्षणपर 'सँभारते' रहते हैं, यथा—*'सुनु सठ सदा रंकके धन ज्यों छन छन प्रभुहि सँभारहि।'* अथवा, लक्ष्मी भगवान्‌के चरणकी उपासक हैं, इसीसे बारम्बार चरण देखनेको कहती हैं। लक्ष्मी कमला हैं, कमलमें बसती हैं; इसीसे प्रभुके पदको कमल कहा।

टिप्पणी—२ *'रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी'* इति। श्रीरामजीकी शिक्षा सुनकर श्रीसीताजी विकल हो गयीं; जैसे रातको कोकी व्याकुल होती है, यथा—*'सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि सरल चंदनिसि जैसें॥'* इसीसे वे कहती हैं कि चरण देखकर मैं वैसी ही प्रसन्न रहूँगी जैसी दिनमें कोकी।

टिप्पणी—३ *'बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय…'* इति। *'भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥'* इत्यादि भयके वचन हैं। *'कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पदत्राना॥ चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥'*—ये विषादके वचन हैं। और *'घोर घाम हिम बारि बयारी'* इत्यादि परितापके वचन हैं। [दीनजी कहते हैं कि विषाद उस मानसिक दुःखको कहते हैं जिसमें अपनी वह कमजोरी प्रकट होती है जिसमें हम अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर सकते। परिताप उस मानसिक दुःखको कहते हैं जिसमें हमें कुछ हार्दिक और कुछ शारीरिक दुःख हो।—*'सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू॥'…'* विषादके वचन हैं और जो पं० रामकुमारजीने विषादके वचन माने हैं वह मेरी रायमें परितापके वचन हैं। रा० प्र० का मत है कि *'भूमि सयन बलकल बसन'* इत्यादि विषाद है। *'लागइ अति पहार कइ पानी'* यह परिताप है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि बहुतेरे शब्द अनादरका है, भाव यह कि ये दुःख तो कुछ भी नहीं हैं। भय, विषाद, परिताप तीनों भाँतिके दुःख वही हैं जो रघुनाथजीने वर्णन किये हैं।]

टिप्पणी—४ *'प्रभु बियोग लवलेस समाना।'* *'कृपानिधाना'* इति। (क) *'प्रभु बियोग'* अर्थात् जैसे आप (प्रभु) समर्थ हैं, वैसे ही आपका वियोग समर्थ है। ऐसा भारी है कि समस्त दुःखसमूह मिलकर भी उसका मुकाबिला नहीं कर सकते। (ख) *'कृपानिधाना'* का भाव कि आप कृपा करके वियोग-दुःखसे मुझे बचाइये। [पुनः भाव कि आप छोटे-छोटे दुःखोंसे रक्षाके लिये मुझे घरपर रखना चाहते हैं और वियोगका महान् दुःख देना चाहते हैं, यह विपरीत कृपा कैसी? (वै०) (ग) वियोगके क्लेशके बराबर नहीं, भाव यह कि वियोगका लवलेश होते ही मेरे प्राण छूट जायँगे।

अस जिय जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िय जनि॥ ७॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥ ८॥

अर्थ—हे सुजान-शिरोमणि! ऐसा जीसे जानकर मुझे संग लीजिये, छोड़िये नहीं॥ ७॥ हे स्वामिन्! मैं बहुत विनती क्या करूँ? आप करुणामय और हृदयके भीतरकी जाननेवाले हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ सुजान-शिरोमणिका भाव स्वयं ही आगे कहती हैं कि *'राखिअ अवध जौं अवधि लगि रहत न जानिअहिं प्रान।'* अर्थात् आप सब बिना जनाये जाननेवाले हैं। २—जब हृदयकी जानते ही हैं तो बहुत विनती करना दोषमें दाखिल है, यथा—*'सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।'* आप करुणामय हैं। अतएव हमपर करुणा करें, अन्तर्यामी हैं, हृदयकी जानते हैं, अतः हमें साथ लीजिये।

दो०—राखिअ अवध जौं अवधि लगि रहत न * जानिअहिं प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद सील सनेह निधान॥ ६६॥

अर्थ—हे दीनबन्धु! हे सुन्दर सुखोंके देनेवाले!! हे शील-स्नेह-निधान!!! यदि आप मुझे (वनवासकी चौदह वर्षकी) अवधितक अयोध्यामें रखते हैं तो प्राणोंको रहता हुआ न जानिये। अर्थात् समझ लीजिये कि प्राण नहीं रहेंगे॥ ६६॥

टिप्पणी—१ *'राखिअ अवध''' प्रान'* इति। श्रीजानकीजीने प्रथम प्रार्थना की कि मुझे साथ ले चलिये, बिना आपके मैं जीवित न रहूँगी। यथा—*'पिय बियोग सम दुख जग नाहीं', 'प्रभु बियोग लवलेस समाना।''' लेइअ संग'''''।'* ऐसा कहनेसे हठ समझा जाता है और श्रीरामजीने बार-बार हठ करनेको मना किया है। यथा—*'हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥'* (६१) *'जौं हठ करहु प्रेम बस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥'* (६२। ३) *'सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछिताइ''''''।'* (६३) इसीसे वे हठ न करके इस तरह कह रही हैं कि यदि अवधितक प्राण रहते समझिये तो अवधमें रखिये। (यह अर्थ *'रहतन'* या केवल *'रहत जानिअहिं'* पाठमें होता है।) यह वाक्य हठ नहीं करार दिया जा सकता; क्योंकि घरपर रखना या न रखना यह श्रीरामजीके अधीन है, उन्हींपर इसका फैसला छोड़ दिया गया है।

---

* प्रथम संस्करणमें मैंने लिखा था कि 'राजापुरका' 'रहतन जानिअ प्रान' पाठ है। भागवतदास आदिकी पोथियोंमें 'रहत जानिअहि प्रान' है। अर्थ दोनोंका एक ही है। 'रहतन' एक शब्द है जिसका अर्थ वही है जो 'रहत' का है। यह बुन्देलखण्डी प्रयोग है। 'ठाकुर' की कविता 'ठाकुर ठसक' आदिमें ऐसे प्रयोग बहुत हैं। दीनजीके 'प्रेमपंचक' में भी एक प्रयोग ऐसा ही है—'ऊँची तरंगैं उमंगनकी जिनमें बहि जातन झेल नहीं है' यहाँ व्यक्ताक्षेपालङ्कार है।' 'रहत' और 'न' को अलग करके अर्थ हो सकता है, पर उस अर्थमें भावकी चोखाई जाती रहती है।'

गीताप्रेसके सं० १९९७ के संस्करणमें लिखा है कि 'राजापुरकी प्रतिमें 'रहत न जानिअहिं' पाठ मिलता है। इससे एक मात्रा बढ़ जाती है और छन्द बिगड़ जाता है। अतः हमने 'जानिअहि' के स्थानमें 'जनिअहि' कर दिया है। इससे अर्थमें कोई अन्तर नहीं आता और छन्दका दोष निवृत्त हो जाता है। सम्भव है कि 'ज' के स्थानमें 'जा' भूलसे लिख गया हो। 'जानिअहि,' 'पालिअहिं', 'राखिअहिं' के स्थानपर 'जनिअहिं', पलिअहिं', 'रखिअहि' प्रयोग अन्यत्र भी आये हैं।'

लाला सीतारामकी पुस्तकमें 'रहतन' पाठ है। सम्भव है कि चरणमें एक मात्राके बढ़ जानेसे 'न' को किसी-किसीने हटा दिया और किसी-किसीने 'जानिअहि' का 'हि' हटा दिया हो। इस तरह 'रहतन जानिअ', 'रहत जानिअहि', 'रहत न जानिअ' इतने पाठ हो गये। मैं राजापुरका पाठ जैसा बताया जाता है वैसा ही इसमें रखता हूँ। सम्भव है कि आगे कोई विद्वान् इस दोषमें सुन्दर भाव बतायें। जैसे लंकाकाण्डमें एक दोहेमें संख्या न होनेका भाव लिखा गया है। यदि 'रहतन' पाठ राजापुरकी पोथीका हो तो उसका अर्थ 'रहत' होगा जैसा प्रथम संस्करणमें लिखा गया। अर्थ होगा—'यदि मेरे प्राणोंको (वनवासको) अवधितक रहते समझिये तो मुझे अवधमें रखिये।'

नोट—१ वाल्मी० और अ० रा० की सीता और मानसकी सीतामें महान् अन्तर है। वाल्मी० में तो बारम्बार हठ किया है, यहाँतक कि अपनी मृत्युके लिये विष, अग्नि या जलका उपयोग करनेतकका विचार प्रकट किया है और भी ऐसी बातें कह डाली हैं जो पतिव्रताशिरोमणिके मुखसे शोभित नहीं कही जा सकती।

नोट—२ दोहेके पूर्वार्धमें यह भी भाव है कि आपने जिस कर्तव्यका मुझे उपदेश किया है कि माताकी सेवा करना, उनका दुःख मिटाना, यह कर्तव्य तो अपनेसे वियोग होनेपरका बताया है पर यह भी आपने सोचा कि आपका वियोग होनेपर मेरे शरीरमें प्राण रहेंगे भी या नहीं। यदि प्राण ही न रहेंगे तब आपके उपदेशका पालन कौन करेगा? *'अवधि लगि'* में भाव यह है कि मैं तो आपका वियोग-दुःख एक क्षण भी नहीं सह सकूँगी तब भला चौदह वर्षके लिये घरपर कैसे रह सकूँगी। यथा—**'इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे। किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता॥'** (वाल्मी० २। ३०। २१)

नोट—३ *'दीनबन्धु'''' '*—भाव कि आप दीनबन्धु हैं, मैं दीन हूँ; दीन जानकर मुझपर दया कीजिये, नहीं तो दीनबन्धु नाममें बट्टा लगेगा। *'सुन्दर सुखद'* हैं, मुझे सुन्दर मुखारविन्द तथा चरणोंके दर्शनका सुख दीजिये। यथा—*'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदन निहारे॥'* (६५। ८), *'छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥'* सुखद होकर मुझे दुःख न दीजिये। शीलनिधान तथा स्नेहनिधान हैं, सबका शीलस्नेह रखते हैं, अतः मेरा भी मान रखिये, शीलका त्याग न कीजिये। मेरे स्नेहकी ओर भी देखिये, मैं आपकी अनन्या हूँ, मेरे प्रेमको रखिये। स्नेह न छोड़िये। मैं आपके प्रेमकी भूखी हूँ। साथमें रहनेसे जो मुझे प्रेम मिलेगा उससे मुझे वञ्चित न कीजिये। (पं०, रा० प०, पं० रा० कु०।)

श्रीजानकीजीने श्रीरघुनाथजीको *'प्राणनाथ'*, *'करुणायतन'*, *'सुन्दर-सुखद'*, *'सुजान'* आदि सम्बोधन करके वार्ताका उपक्रम किया। (दोहा ६४ में) दोहा ६६ में भी प्रायः वे ही सब सम्बोधन हैं, यथा—*'बन दुख नाथ कहे'''' '*, *'सब मिलि होहिं न कृपानिधाना'*, *'अस जिय जानि सुजान सिरोमनि'*, *'करुनामय उर अंतरजामी'*, *'दीनबंधु सुंदर सुखद सील सनेह निधान।'* दोहा ६६ में *'सील सनेह निधान'* विशेष है। इससे सूचित होता है कि यहाँ महारानीजी साथमें ले चलनेके लिये शील और स्नेहपर विशेष जोर दे रही हैं। गीतावलीके *'पिय निठुर बचन कहे कारन कवन। जानत हौ सबके मनकी गति, मृदुचित परम कृपालु रवन।'* *'प्राननाथ सुन्दर सुजानमनि दीनबंधु जग आरति दवन। तुलसिदास प्रभुपद सरोज तजि रहि हौं कहा करौंगी भवन।'* (२।८। १-२) इस पद्यमें प्रायः वही सब भाव हैं।

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥ १॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥ २॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥ ३॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥ ४॥

शब्दार्थ—**'हारी'**=('हार' बुन्देलखण्डी बोली है) परिश्रम, थकावट। **'पखारि'**=प्रक्षालन करके, धोकर। **'बाउ'**=वायु। **'श्रम कन'**=(कण=बूँद) पसीनेकी बूँदें, **'पेखें'** (प्रेक्षण)=देखकर।

अर्थ—क्षण-क्षणमें आपके चरणकमलोंको देख-देखकर मुझे रास्ता चलनेमें थकावट न होगी॥ १॥ सब प्रकारसे प्रिय पतिकी सेवा करूँगी वा हे प्रियतम मैं सभी प्रकारसे आपकी सेवा करूँगी और मार्गमें चलनेसे उत्पन्न होनेवाली सारी थकावटको दूर करूँगी॥ २॥ आपके चरण धोकर वृक्षकी छायामें बैठकर प्रसन्न मनसे आपको हवा करूँगी॥ ३॥ पसीनेकी बूँदोंसहित आपका श्याम शरीर देखकर और प्राणपतिके अवलोकनसे अथवा प्राणपतिका दर्शन करते रहनेसे दुःखका समय कहाँ होगा॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'मोहि मग चलत न होइहि हारी।'''* इति। श्रीरामचन्द्रजीने कहा था कि तुम्हारे चरण कोमल हैं, मार्ग अगम है, कैसे चलोगी, यथा—*'चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥'* उसीका यह उत्तर है कि थकूँगी नहीं। न थकनेका कारण बताती हैं—*'छिनु छिनु चरन सरोज निहारी।'* भाव कि इनके दर्शनसे तो भवमार्गका श्रम दूर होता है, तब इस मार्गके श्रमकी भली चलाई। *'न होइहि हारी'* इन शब्दोंसे यह नहीं कहतीं कि श्रम छूट जायगा वरन् यह कहती हैं कि श्रम होने ही न पावेगा, छूटनेकी चर्चा ही क्या? [भाव कि मुझे आपके सदा साथ रहने और सदा चरणोंके दर्शनका उत्साह और प्रेम है। जिस कार्यमें प्रेम और उत्साह रहता है तथा जो मनको भाता है उसमें परिश्रम नहीं होता यह लोकप्रसिद्ध है। अतः मुझे थकावट न होगी। (वै०)]

टिप्पणी—२ *'सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं'* इति। (क) सब प्रकारकी सेवा क्या है? यह स्वयं आगे कहती हैं—*'पाय पखारि' 'पाय पलोटिहि सब निसि दासी।'* [पदप्रक्षालन, स्नान कराना, वस्त्र-प्रक्षालन, शय्या-डासन, पाद पलोटनादि सब सेवा है। (वै०) *'पिय सेवा'* का भाव कि प्रियतमकी सेवा प्रियतमके ही समान है। तात्पर्य कि आपकी सेवा मुझे अत्यन्त प्रिय है। (यथा—*'जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥ निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥'* (७। २४)—यह राज्याभिषेक होनेपर भी सेवा दिखायी गयी है।) (ख) *'मारग जनित सकल श्रम'*—(मार्गजनित श्रम यह कि उष्णतापसे प्यास लगेगी तब जल पिलाऊँगी, पंखा झलकर पसीना और ताप दूर करूँगी। पैर दबाकर थकावट दूर करूँगी इत्यादि।) (वै०) भाव कि मैं तो आपके मार्गश्रमको दूर करूँगी और मुझको मार्गश्रम कहाँ?—*'मोहि मग चलत न होइहि हारी।'*

रा० प्र०—'यहाँ तो सेवा करनेको कहती हैं, पर सेवा तो कहीं देख नहीं पड़ती?' इस शङ्काका समाधान यह है कि ये प्रिय वचन प्राणपतिके साथ जानेके लिये कहे जिसमें वे साथ ले जायँ। फिर प्रत्यक्ष सेवा भी कही गयी है, यथा—*'बट छाया बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥', 'तुलसी तरुवर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाए॥'* (२३७। ८। ७) लक्ष्मणजी देवर हैं, उनकी माताने उनको यही उपदेश दिया था कि श्रीसीतारामजीको सब प्रकारसे सुख देना, अतः वे इनको कोई सेवा करने नहीं देते थे। इससे विशेष सेवाका उल्लेख भी नहीं है।

टिप्पणी—३ *'पाय पखारि बैठि तरु छाहीं'''* इति। (क) पहले मार्गका श्रम हरनेको कहा। मार्गजनित श्रम पैरका होता है, इससे पैर धोकर पैरोंका श्रम दूर करूँगी, पंखा झलकर हवा करके शरीरकी गर्मी दूर करूँगी *'बैठि तरु छाहीं'* का भाव कि यह बैठने-(बैठकर करने-) की सेवा है। आगे शयनकी सेवा कहती हैं—*'सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥'* (ख) *'मुदित मन माहीं'* —भाव कि सेवा उत्साहपूर्वक करनी चाहिये, इसीसे उत्साहपूर्वक करनेको कहती हैं, यथा—*'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥'* (७। ५०। ६) पुनः, [भाव कि प्रसन्न चेष्टापूर्वक हास्यवार्ता करती हुई उदासीनताको मिटाऊँगी। (वै०) आपको भी प्रसन्न करूँगी, आपको कभी उदास न होने दूँगी और स्वयं उदास न रहूँगी। इसमें (वाल्मी० २। ३०। १७) **'न च तत्र ततः किंचिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्। मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा॥'** का भाव भी आ गया (और वचन भी कोमल और प्रिय बने रहे)। अर्थात् मेरे साथ जानेसे आप कोई भी अनिष्ट न देख सकेंगे, मेरे लिये आपको कोई कष्ट न होगा, मैं आपके लिये दूभर न होऊँगी।]

टिप्पणी—४ *'श्रम कन सहित स्याम तनु देखे।'''* इति। *'स्याम तनु'* का भाव कि स्त्रियोंकी भावना शृङ्गारकी होती है। और शृङ्गारका रंग श्याम है—**'श्यामो भवति शृङ्गारः'**—इसीसे श्याम तन देखना कहा। अन्य स्थलोंमें भी ऐसा ही कहा गया है, यथा—*'सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता॥'* (३। २१। ३) *'कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥'* (५। १४। ६) वैसे ही यहाँ कहा।

नोट—गीतावलीमें भी बड़ा सुन्दर वर्णन है। उससे मिलान कीजिये—*'कृपानिधान सुजान प्रानपति संग*

विपिन ह्वै आवोंगी। गृह ते कोटि गुनित सुख मारग चलत साथ सचु पावोंगी॥' (१) *'थाके चरन कमल चाँपोंगी श्रम भये बाउ डोलावोंगी। नयन चकोरनि मुख मयंक छबि सादर पान करावोंगी॥'* (२) (गी० २। ६) *'प्रभु पद कमल बिलोकिहौं छिन छिन, एहि ते अधिक कहा सुख समाजु॥'* (गी० २। ७)

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि—(क) मेघकी बूँदोंसे ताप और धूल आदिसे जो शरीरको कष्ट होता है वह भी दूर होता है। वैसे ही यहाँ *'श्रम कन'''* से जनाया कि आपका श्यामतन श्याम मेघ है, श्रमकण (पसीनेकी बूँदें) मेघकी बूँदें हैं, मार्गका सारा श्रम आतप और धूल आदिका कष्ट है, श्रमकणसहित श्यामतनका दर्शन और प्रभुका कृपावलोकन मेघोंकी बूँदोंका स्नान है जिससे तापादि दुःखोंका हरण होता है। (ख)—यहाँ *'स्याम तनु देखें'* और *'प्रानपति पेखें'* में पुनरुक्ति होती है। अतः अर्थ यह है कि *'श्रम कन सहित स्याम तनु देखें'* अपने लिये कहा गया है और *'प्रानपति पेखें'* से प्राणपतिका देखना कहा है। भाव यह कि श्रमकणसहित आपका श्याम शरीर मैं देखूँगी और आप मुझे कृपादृष्टिसे देखेंगे तब दुःखका समय कहाँ?

वीरकविजी लिखते हैं कि देखें और पेखें पर्यायवाची हैं, किन्तु अर्थ दोनोंका पृथक् होनेसे 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है। *'कहँ दुख समउ'''* में वक्रोक्ति अलङ्कार है।

नोट—२ *'कहँ दुख समउ'* में यह भी भाव है कि जिसपर मन आसक्त रहता है उस स्वामीको श्रमित देखकर सुसेवककी दृष्टि कभी भी अपने दुःखकी ओर जा ही नहीं सकती; उसको अपने दुःखको विचारनेका अवसर ही कहाँ? (वै०) इस तरह प्रथम *'मोहि मग चलत न होइहि हारी'* से जनाया कि मुझको तो पथश्रम होगा नहीं, हाँ, आपको अवश्य होगा। इस कथनसे सूचित किया कि आप मुझसे भी अधिक सुकुमार हैं। (प० प० प्र०) यही आगे व्यङ्गसे कहा है—*'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू?'*

नोट—३ (क) *'प्रानपति'* का भाव कि आपका कृपावलोकन हमारे प्राणोंका रक्षक होगा। (ख) यहाँतक दिनकी सेवा कही आगे रात्रिकी सेवा कहती हैं। (पु० रा० कु०)

सम महि तृन तरुपल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥ ५॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥ ६॥

शब्दार्थ—**पलोटना** (सं० प्रलोठन)=पैर दबाना। **जोहना**=देखना। **बयारि**=हवा।

अर्थ—बराबर चौरस जमीनपर तृण और पेड़ोंके पत्ते बिछाकर यह दासी सारी रात आपके चरण दाबेगी॥ ५॥ बारम्बार आपकी कोमल मूर्तिको देख-देखकर मुझे गर्म हवा भी न लगेगी॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'पाय पलोटिहि सब निसि दासी'* इति। (क) चरणसेवा करना दासीका काम है इसीसे अपनेको 'दासी' कहा। (ख) पूर्व कुश और पत्ते कहे थे, यथा—*'कुस किसलय साथरी सुहाई'* और यहाँ तृण और तरु-पल्लव कहती हैं। इस भेदका आशय यह है कि सब जगह कुश नहीं प्राप्त होता पर घास सब जगह मिलती है, जहाँ कुश मिला वहाँ कुश बिछाये, जहाँ वह न मिला वहाँ घास बिछायी। (ग) *'सब निसि'* अर्थात् जितने दिन साथ रहेंगी उतने सब दिनोंमें प्रत्येक सारी रातको यह सेवा करूँगी। भागवतमें शुकदेवजीने इनकी चरण-सेवाका वर्णन किया है। (''''' **'पद्मपद्भ्यां प्रियायाः पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां'''''**।' (९। १०। ४) **'कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकर-सरोजलालितौ'''''**॥' (७। मं० श्लोक २)

टिप्पणी—२ *'बार बार मृदु मूरति जोही।'''* इति। (क) मूर्तिके दर्शनसे ताप दूर होता है अतः कहा कि *'लागिहि तात बयारि न मोही'* । यह *'घोर घामु हिम बारि बयारी'* का उत्तर है। (ख) *'तात बयारि'* गर्म हवा कहनेका भाव कि चैत्रमास है, पहले गर्म हवा मिलेगी, अतः 'तात' ही कहा। अथवा *'तात बयारि'* यह पद अल्प दुःखका वाचक है। तात्पर्य कि आपके दर्शनसे बड़े दुःखको कौन कहे *'तात बयारि'* भी न लगेगी अर्थात् किञ्चित् भी दुःख न होगा। यथा—*'मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ॥ ते बन सहहिं बिपति सब भाँती।'* (२००। ३-४) (ग) *'बार बार'* मूर्ति-दर्शन कहा। इसी तरह चरण-दर्शनके साथ भी *'छिन-छिन'* पद दिया था जिससे भी बारम्बार देखना जनाया है—*'छिनु*

छिनु प्रभुपद कमल बिलोकी', 'छिनु छिनु चरन सरोज निहारी' बारम्बार देखनेका भाव कि इनके दर्शनोंसे तृप्ति नहीं होती।

को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा॥ ७॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥ ८॥

शब्दार्थ—**सिंघ बधुहि**=सिंहकी स्त्री, सिंहनी। **ससक**=खरगोश, खरहा। **सिआर**=गीदड़।

अर्थ—प्रभुके साथ रहते मुझे कौन ताकनेवाला है जैसे सिंहकी स्त्रीकी ओर खरगोश या सियार (कब आँख उठाकर देख सकते हैं)?॥ ७॥ मैं सुकुमारी हूँ और आप वनके योग्य! आपको तो तपस्या उचित है और मुझे भोग!॥ ८॥

नोट १—प्रभुके *'निसिचर निकर नारि नर चोरा', 'हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू'* इन वचनोंका उत्तर यहाँ है।

नोट २—*'प्रभु'* पद देकर जनाया कि आप समर्थ हैं, समर्थके साथ किसकी मजाल है कि नजर उठाकर दृष्टि डाल सके। आप सिंह हैं, मैं सिंहनी हूँ, देवता खरगोश और राक्षस सियार हैं। सिंहनी कहनेका भाव कि वह ही इन्हें मार सकती है वैसे ही मैं सब राक्षसोंको मार सकती हूँ। श्रीरामजी लीला करना चाहते हैं इसीसे श्रीजानकीजी उनकी इच्छानुकूल काम करती हैं, राक्षसोंके मारनेकी इच्छा नहीं करतीं—*'मैं कछु करब ललित नर लीला।'* देवताओंमें जयन्तने श्रीसीताजीकी ओर दृष्टि की। उसका वृत्तान्त प्रसिद्ध ही है और राक्षसोंमें खर-दूषण-रावणादिने आँख उठायी सो परिवारसहित नष्ट हुए। (पु० रा० कु०) [वाल्मीकीय सर्ग २९ के '**न हि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्नोति राघव। सुराणामीश्वरः शक्रः प्रधर्षयितुमोजसा॥**' (६) इस श्लोकसे मिलान कीजिये। अर्थात् आपके साथ रहनेपर देवेन्द्र इन्द्र भी बलपूर्वक मेरा अपमान नहीं कर सकता।]

श्रीनंगेपरमहंसजीने *'निसिचर निकर नारि नर चोरा'* का अर्थ *'सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा'* के आधारपर इस तरह किया है—'निशिचर और पुरुष-स्त्रीको चुरानेवाले बहुत वनमें रहते हैं।' और लिखते हैं कि श्रीजानकीजी कहती हैं कि आपके साथमें निशाचर और वनके पुरुष मेरी ओर ताक नहीं सकते। जैसे सिंहवधूको शशक और सियार लेने जायगा तो स्वयं ही नाशको प्राप्त होगा, क्योंकि सिंहवधूके बलको शशक और सियार कैसे पा सकता है।

वे लिखते हैं कि देवताओंको खरगोश बनाना अयोग्य है; क्योंकि देवताओंकी रक्षाके लिये ही तो अवतार होता है। यहाँ निशिचरोंको खरगोश कहा है और पुरुषोंको सियार। देवताओंमें जयन्तको लेना ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ प्रसंग चोरीका है और जयन्तने तो द्रोह किया था, चोरी नहीं।

मेरी समझमें *'नारि नर चोरा'* का अर्थ 'स्त्री और पुरुषोंको चुरानेवाले' ही ठीक है। श्रीरामजीने वहाँ निशाचरोंको *'नारि नर चोरा'* कहा है, उस सम्बन्धसे शशक और सियार दोनों ही निशाचरोंके लिये कहा गया है; ऐसा मानना उचित होगा। आगे जो प्रेमियोंको रुचे वह ही ठीक है।

नोट ३—*'मैं सुकुमारि'''''* इसमें व्यङ्ग है कि मैं सुकुमारी हूँ क्या आप कठोर तनके हैं? आपकी यह अवस्था तपके योग्य है और मेरी भोगके? अर्थात् जैसे आप सुकुमार और लघु वयस् वैसी ही मैं, यदि आपको यह सब उचित है तो मुझे भी उचित है। (पंजाबीजी) पुनः भाव कि चौथेपनमें राजाको वन जानेकी आज्ञा है तो क्या चौथापन आपका आ गया? (वै०)

दो०—ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥ ६७॥

शब्दार्थ—**बिलगान**=फट गया। ('कलेजा फटना' मुहावरा) है।

अर्थ—ऐसे भी कठोर वचनको सुनकर जो मेरा हृदय न फटा तो हे प्रभु! आपके कठिन वियोगका कठिन दुःख ये नीच प्राण सहेंगे॥ ६७॥

☞ मिलान कीजिये—*'हौं रहौं भवन भोग लोलुप ह्वै पति कानन कियो मुनि को साजु। तुलसिदास ऐसे बिरह बचन सुनि कठिन हियो बिहरो न आजु॥'* (गी० २७)

पुरुषोत्तम रामकुमार—तात्पर्य यह कि प्रभुके वचन (*'रहहु भवन अस हृदय बिचारी'*) वियोगसूचक होनेके कारण इतने कठोर हैं कि हृदय सुनते ही फट जाना चाहिये था सो न फटा, अतएव यह सिद्ध हुआ कि मेरा हृदय वियोगके वचनसे भी अधिक कठिन है। हृदय इनको सह गया, इससे अनुमान होता है कि प्राण भी वियोग-दुःख भोगेंगे और सहेंगे। दुःख उठानेको तैयार हैं; अतः ये प्राण अधम हैं। यहाँ सम्भावना अलंकार है।

श्रीजानकीजीके शब्दोंसे भावी बात सूचित हुई कि एक वर्षतक प्रतिबिम्बरूपसे लङ्कामें रहकर प्राण-वियोग-दुःख सहेंगे, अभी निकल जाते तो न सहना पड़ता।

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोग न सकी सँभारी॥ १॥
देखि दसा रघुपति जिय जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना॥ २॥
कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥ ३॥
नहिं बिषाद कर अवसरु आजू। बेगि करहु बन गवन समाजू॥ ४॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीसीताजी अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, वे वचनवियोग भी न सँभाल (सह) सकीं॥ १॥ उनकी दशा देखकर श्रीरघुनाथजीने अपने जीमें जान लिया कि हठ करके (इनको घरपर) रखनेसे ये प्राण न रखेंगी॥ २॥ कृपालु सूर्यवंशके स्वामी बोले—शोक छोड़कर वनको साथ चलो॥ ३॥ आज शोकका समय नहीं है। शीघ्र ही वन चलनेकी तैयारी करो॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'अस कहि सीय बिकल भइ भारी।'''* इति। श्रीसीताजी श्रीरामजीका वचन सुनकर पूर्व व्याकुल हो गयी थीं, यथा—*'उतरु न आव बिकल बैदेही।'* अब 'भारी बिकल' हुईं। कारण यह कि उन्हें इस समय बड़ी ग्लानि हो रही है कि वियोग जब होता तब होता, वियोगका वचन सुनकर मृत्यु हो जानी चाहिये थी। साक्षात् वियोगकी कौन कहे, वे वचनमात्रका वियोग (अर्थात् जो वचन वियोगके सूचकमात्र हैं) न सह सकीं।*

नोट—१ *'बचन बियोग'''* अर्थात् वियोगका वचनमात्र सुनकर सह न सकीं, मूर्छित हो गयीं। यथा—*'तुलसिदास प्रभु बिरह बचन सुनि सहि न सकी मुरछित भइ भामिनि।'* (गी० २। ५)

नोट—२ (वाल्मी० ३०। २२—२६) में श्रीसीताजीकी व्याकुल दशाका वर्णन इस प्रकार है—शोकसंतप्त श्रीजानकीजी इस प्रकार बहुत दुःखपूर्वक प्रार्थना करती-करती थक गयीं, तब वे पतिसे लिपटकर जोर-जोर रोने लगीं। विषबुझे बाणोंसे विद्ध हथिनीके समान वे अनेक वाक्योंसे बिधी हुई थीं। अतएव बहुत दिनोंका जमा हुआ आँसू निकलने लगा, जैसे अरणिसे आग निकलती है। सीताजीकी आँखोंसे दुःखसे उत्पन्न स्फटिकके समान स्वच्छ जल निकलने लगा, मानो दो कमलोंसे जल बहता हो। लम्बी आँखोंवाला पूर्णिमाके निर्मल चन्द्रमाके समान सीताजीका वह मुँह सूख गया, जिस प्रकार जलसे बाहर निकाला हुआ कमल सूख जाता है। दुःखिनी सीता बेहोश-सी हो रही थीं।—यह सब दशा *'सीय बिकल भइ भारी। ''''देखि दसा'* में ले सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य स्मरण रहे कि वाल्मी० की सीताजीकी यह दशा अपने महलमें हुई। मानसमें सीताजी सासके सामने हैं। अतः लिपट जानेवाली बात यहाँ मर्यादित न होगी।

नोट—३ *'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना'*—गीतावलीमें सीताजीने कहा है—*'जो हठि नाथ राखिहौ मो कहँ तौं संग प्रान पठावौंगी। तुलसिदास प्रभु बिनु जीवत रहि क्यों फिरि बदन देखावौंगी॥'* (गी० २। ६)

* अ० दी० च०—'श्रीरामजीके गूढ़वचनका ऊपरी भाव यह है कि अवधमें रहो, पर यथार्थ तत्त्वको जो समझाया कि वनको चलो यह आन्तरिक भाव महारानीजी समझ गयीं, पर इतनेपर भी वे वचनमात्रका वियोग सँभाल न सकीं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि वास्तविक रहनेको कहते तो नहीं सँभालतीं।'

नोट—४ वि० त्रि०—सीताजीकी भारी विकलता देखी। जो वियोगके बचनको नहीं सँभाल सकतीं, उसका जीवन वियोगमें कैसे रह सकता है। देखा कि इनकी तो दशम दशा उपस्थित है—*'इंद्रिय सकल बिकल भइँ भारी। जिमि सर सरसिज बन बिनु बारी॥'* अतः सरकारने सोचा कि जो साथ न होनेसे प्राण नहीं रख सकती उसका साथ चलनेके लिये आग्रह हठ नहीं है। यह सच्चा स्नेह है। भगवती कौसल्याने कहा था कि *'अस बिचारि नहिं करहुँ हठ झूठ सनेह बढ़ाइ'* अर्थात् मैं तुम्हारे वियोगका दुःख सह सकूँगी, मरूँगी नहीं, अतः मेरा स्नेह झूठा है, मैं जानेके लिये हठ न करूँगी। सो यहाँ तो सच्चे स्नेहसे काम पड़ गया, अब इन्हें संग न ले जानेमें मेरा हठ समझा जायगा, यह तो प्राण छोड़ना चाहती है। अतः चलनेकी आज्ञा देनेमें विलम्ब नहीं किया।

टिप्पणी—२ *'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना'* इति। भाव यह कि भारी व्याकुलतासे उनकी दशा ऐसी देख पड़ी कि मृत्यु ही होनेवाली है, इसीसे *'देखि दसा'* कहा। श्रीजानकीजीके *'राखिय अवध जो अवधि लगि रहत न जानिअहि प्रान'* इन वचनोंका यहाँ चरितार्थ है—*'देखि दसा रघुपति जिय जाना।'* अर्थात् उस दशाको रघुनाथजीने देखा और जीसे जान लिया कि इनके प्राण वियोगमें न रहेंगे। यहाँ अनुमान प्रमाण अलङ्कार है।

टिप्पणी—३ *'कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा……'* इति। साथ चलनेकी आज्ञा दी यह कृपा की, अतः *'कृपाल'* कहा। भानुकुलके क्षत्रिय दूसरोंके सोच दूर करते हैं। इन्होंने सीताका सोच मिटाया, सोच छोड़नेको कहा—*'परिहरि सोचु चलहु बन साथा।'* अतएव *'भानुकुलनाथ'* कहा। पुनः, सीताजीकी मृत्यु हो जाती तो श्रीरामजी दूसरा ब्याह न करते, क्योंकि वे एकपत्नीव्रत हैं। संतान न होनेसे कुलकी वृद्धि न होती। साथ लेकर उन्होंने रघुकुलकी रक्षा की। अतएव *'भानुकुलनाथा'* कहा। (पंजाबीजी) सोच छोड़नेका कारण कहते हैं कि *'नहि बिषाद कर ….'*।' (यह भी भाव है कि अब प्रसन्न हो जाओ)

टिप्पणी—४ (क) *'नहिं बिषाद कर अवसरु आजू……।'* भाव कि विषाद देखकर लोग कहेंगे कि इनको वन जानेमें बड़ा क्लेश हो रहा है। पुनः दुःख मानकर जानेमें व्रत-भङ्ग होगा। (पण्डितजी) वा, यात्राके समय विषाद करना अमङ्गल है। वा, आज परम मङ्गल है विषादका समय नहीं; क्योंकि सुर, विप्र, गऊके कार्यके लिये चलना है। वा, आज इस समय शुभ मुहूर्त है। (पंजाबीजी, रा० प्र०) (ख) *'बेगि करहु बन गवन समाजू'* *'बेगि'* अर्थात् देर करनेसे कोई दुर्योग यहाँ रह जानेका न उपस्थित हो जाय। अथवा, विलम्ब करनेसे पिताके वचनोंमें अभक्ति पायी जाती है।

कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई। लगे मातु पद आसिष पाई॥ ५॥
बेगि प्रजा दुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीने प्रिय वचन कहकर अपनी प्यारी पत्नीको समझाकर माताके चरणोंको स्पर्शकर आशीर्वाद पाया॥ ५॥ (माता बोलीं कि) शीघ्र आकर प्रजाका दुःख दूर करना* कठोर (हृदयवाली) माता तुम्हें भूल न जाय॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'कहि प्रिय बचन'* भाव यह कि पहले कठोर वचन कहे थे, अब प्रिय कहे। घरमें रहनेकी शिक्षा कठोर वचन है और वनको साथ चलनेकी आज्ञा प्रिय वचन हैं। इन्हींको कहकर समझाया। यथा—*'कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥……'* इत्यादि यही समझाना है।

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—दुःखिनी सीताका मुख सूख गया, वह बेहोश-सी हो रही थीं। यह दशा देख श्रीरामजी उनको विश्वास दिलाते हुए बोले कि—तुम्हारे बिना मैं स्वर्गमें भी रहना नहीं चाहता, पर बिना तुम्हारा ठीक-ठीक अभिप्राय जाने वन चलनेको कैसे कहता, अब तुम्हारा दृढ़ निश्चय और विश्वास देखकर तुम्हें साथ न ले जानेका विचार छोड़ दिया। तुम मेरे साथ वनवासके लिये ही उत्पन्न हुई हो। अब

* सू० मिश्र लिखते हैं कि 'बेगि प्रजा' यह रामजीकी उक्ति है और जननि माताकी।

प्रसन्न हो जाओ, वनको चलो, साथ चलनेका तुमने जो निश्चय किया यह अति उत्तम है। तुम्हारे पिताके और मेरे दोनोंके कुलके योग्य यह निश्चय है, इत्यादि। अब ब्राह्मणोंको दान देकर वन चलनेकी तैयारी करो। (सर्ग ३० श्लोक २६, ३०, ३९, ४५) गोस्वामीजीने यह सब आशय *'कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई'* में सूचित कर दिया है।

नोट—२ पण्डितजी—पूर्व जब सीताजीको देखकर माताने श्रीरामजीसे पूछा कि इनके लिये क्या आज्ञा है तब उन्होंने माताको प्रिय वचन कहकर समझाया था, यथा—*'कहि प्रिय बचन बिबेकमय मातु कीन्ह परितोष'* तत्पश्चात् सीताजीका प्रसंग चला। अब अन्तमें लिखते हैं कि *'कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई।'* तात्पर्य यह कि दोनोंको प्रिय वचन कहके समझाया।

नोट—३ *'समुझाई'* कहकर *'लगे मातु पद……'* कहनेसे पाया गया कि श्रीसीताजीको सन्तोष हो गया, वे प्रसन्न हो गयीं। यथा—*'जौं चलिहौं तौ चलौं चलि कै बन सुनि सिय मन अवलंब लही है। बूड़त बिरह बारिनिधि मानहु नाह बचन मिस बाँह गही है॥ प्राननाथके साथ चलौं उठि।'* (गी० २।९)

टिप्पणी—२ (क) *'बेगि प्रजा दुख मेटब आई'* इति। कौसल्याजीने रामचन्द्रजीसे प्रजाका दुःख कहा था—*'अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥'* (५७। २) इतनेहीमें श्रीजानकीजी आ गयी थीं। जब इनका संवाद हो गया तब उन्होंने उसी बातको फिरसे उठाकर कहा कि *'बेगि प्रजा दुख मेटब आई।'* वहाँ परिजनका दुःख कहा, यहाँ प्रजाका दुःख कहती हैं, प्रजा-परिजन दो हैं, इसीसे दो बार कहा। (ख) *'जननी निठुर'* का भाव कि ऐसे पूत-पतोहू वनको जाते हैं तो भी मेरे प्राण नहीं निकलते मैं ऐसी निठुर हूँ। निठुरकी खबर कोई नहीं लेता, इसीसे विनती करती हैं कि मेरी याद न भुला देना। *'जननी'* का भाव कि जननीका नाता मानकर मेरी सुध करते रहना, यथा—*'मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ।'* (५६)

फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहौं नयन मनोहर जोरी॥ ७॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदन बिधु जोइहि॥ ८॥

अर्थ—हे विधि! क्या मेरी दशा फिर फिरेगी? नेत्रोंसे इस सुन्दर जोड़ी-(श्रीराम-जानकी-) को पुनः देखूँगी॥ ७॥ हे तात! वह सुन्दर दिन, सुन्दर घड़ी कब होगी कि जब माता जीते-जी तुम्हारा चन्द्रमुख देखेगी॥ ८॥

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—१ *'फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी।…'* इति। अभीतक श्रीरामजी घरमें रहे इससे दशा अच्छी रही, अब दशा बुरी आयी इसीसे वे वनको चले। बुरी दशाका आना प्रथम ही कह चुके हैं, यथा—*'हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥'* यह दशा रामजीको वन भेजनेके लिये आयी है, यथा—*'बिपति हमार बिलोकि बड़ि मातु करिअ सोइ आज। राम जाहिं बन राज तजि होइ सकल सुरकाज॥'* २—'दशा फिरेगी'=बुरे दिन जायँगे और फिरसे अच्छे दिन आयेंगे। श्रीराम-सीता नेत्रोंकी ओट होंगे, यह बुरी दशा है, फिर इन्हीं नेत्रोंसे इस मनोहर जोड़ीका दर्शन होना दशाका पलटना और सुदिन शुभ मुहूर्तका फिरसे आना है।

३—*'सुदिन सुघरी कब होइहि'*—भाव कि अभी बहुत दिन हैं, १४ वर्षके बाद कहीं ऐसे दिन आवेंगे तबतक मैं कैसे जीती रहूँगी। अतएव जीवनसे निराश होकर कहती हैं कि जननी क्या जीती रहेगी और फिर मुख-चन्द्र देखेगी?

दो०—बहुरि बच्छ कहि लालु कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हिय हरषि निरखिहौं गात॥ ६८॥

अर्थ—फिर कभी 'बच्छ' कहकर, 'लाल' कहकर, 'रघुपति', 'तात' कहकर, दुलारकर और हृदयसे लगाकर हर्षित हो तुम्हारे शरीर अर्थात् तुमको देखूँगी॥ ६८॥

नोट—१ (क) '*बहुरि*' से जनाया कि जन्मसे अबतक 'बच्छ' 'लाल' आदि प्यारके नाम लिया करती थीं। मिलान कीजिये—'*राम हौं कौन जतन घर रहिहौं। बार बार भरि अंक गोद लै ललन कौन सों कहिहौं॥ इहि आँगन बिहरत मेरे बारे तुम जो संग सिसु लीन्हें। कैसे प्रान रहत सुमिरत सुत बहु बिनोद तुम्ह कीन्हें॥ जिन्ह श्रवननि कल बचन तिहारे सुनि सुनि हौं अनुरागी। तिन्ह श्रवननि बनगमन सुनति हौं मो तें कौन अभागी॥ जुग सम निमिष जाहिं रघुनंदन बदन कमल बिनु देखें।*' (गी० २।१—४) (ख) माता रामजीके स्नेहसे कातर और व्याकुल हैं। उनके वचन, तन, मन सभी स्नेहमय हो रहे हैं। नाम लेकर बुलाना वचनका स्नेह है, हृदय लगाना और देखना तनका और हर्ष मनका स्नेह है। (पु० रा० कु०) अत्यन्त स्नेह और आतुरताके कारण बच्छ-लाल इत्यादि अनेक शब्द मुँहसे निकले, यह वीप्सालङ्कार है।

☞ गोस्वामीजीकी प्रतिमें और प्राचीन प्रतिलिपियोंमें 'च्छ' के स्थानपर प्रायः 'छ' का ही प्रयोग पाया जाता है।

लखि सनेह कातरि महतारी। बचनु न आव बिकल भइ भारी॥ १॥
राम प्रबोधु कीन्ह बिधि नाना। समउ सनेहु न जाइ बखाना॥ २॥

अर्थ—माता स्नेहसे कातर हो गयी हैं अर्थात् धीरज छोड़ दिया है, मुँहसे वचन नहीं निकलता और अत्यन्त विकल हो गयी हैं—यह देखकर रामजीने अनेक प्रकारसे उनका प्रबोध किया। उस समयका प्रेम (वा, वह समय और उस समयका वह स्नेह) वर्णन नहीं किया जा सकता॥ १-२॥

नोट—१ स्नेह ऊपर दोहेमें दिखाया है—'*बहुरि बच्छ कहि*''।' मुझे अब यह जोड़ी देखनेको न मिलेगी। यह स्नेहसे '*कातरि*' होना है। २ (क) '*प्रबोधु कीन्ह बिधि नाना*' इति। भारी व्याकुलता है इसीसे बहुत तरहसे और बहुत समझाना पड़ा। जैसे कि—दशा भी फिरेगी, हमलोगोंको फिर देखोगी, हृदयसे लगाओगी इत्यादि सब मनोरथ पूरे होंगे, तब प्रबोध हुआ। ☞ वाल्मीकीयमें अन्तिम विदाईके समय श्रीरामजीने माताको यों धीरज दिया है—'**क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च। समग्रमिह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम्॥**' (३४-३५) अर्थात् वनवासका शीघ्र ही अन्त हुआ जाता है। ये १४ वर्ष तो सोते (स्वप्न-सरीखे) बीत जायँगे। जैसे रातको सोनेके बाद सबेरा होता है वैसे ही एक दिन सुनोगी कि मैं सुहृद्गणसहित आ गया। (सर्ग ३९) मैं अपने प्राणोंकी शपथ करता हूँ कि पिताकी आज्ञाका पालन करके मैं वनसे पुनः यहाँ लौट आऊँगा आप सोच न कीजिये, मेरी यात्राके लिये मङ्गल-विधान कीजिये। (वाल्मी० २। २१। ४६—४८) दुःखको मनमें रोकिये, शोकके चिह्न बाहर प्रकट न कीजिये—इत्यादि। अ० रा० में लक्ष्मणको ज्ञानोपदेश किया है और मातासे कहा है कि 'तुम भी इसपर नित्य विचार करना।' कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवोंका सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता। जैसे नदीके प्रवाहमें पड़कर बहती हुई डोंगियाँ सदा साथ-साथ ही नहीं चलतीं। माता! यह १४ वर्षकी अवधि आधे क्षणके समान बीत जायगी (सर्ग ४। ४५—४७) '*बिधि नाना*' शब्दसे कविने सब मतोंके लिये अवकाश दे दिया है। (ख) '*न जाइ बखाना*' का भाव यह कि स्नेह भी भारी है, '*लागत प्रीति सिखी सी*' स्नेहमें ज्ञानका प्रकाश नहीं होता, पुनि-पुनि व्याकुलता होती है।

तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी॥ ३॥
सेवा समय दैअ बनु दीन्हा। मोर मनोरथ सफल न कीन्हा॥ ४॥
तजब छोभु जनि छाड़िय छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू॥ ५॥

अर्थ—तब श्रीजानकीजी सासके पाँव लगीं अर्थात् चरण-स्पर्शकर प्रणाम किया और बोलीं—हे माता! सुनिये, मैं अत्यन्त अभागिनी हूँ॥ ३॥ आपकी सेवाके समय दैवने वनवास दिया, मेरा मनोरथ पूरा न किया॥ ४॥ क्षोभ (मनका उद्वेग और दुःख-चिन्ता) छोड़िये, पर प्रेम और कृपा न छोड़ियेगा। कर्मकी गति बड़ी कठिन है, इसमें मेरा भी कुछ दोष नहीं॥ ५॥

टिप्पणी १—'*तब जानकी सासु पग लागी*·····।' इति। 'तब' अर्थात् जब माताको प्रबोध हुआ और वे सावधान हुईं तब समय जानकर। पैरोंमें लगकर अपनेको परम अभागिनी कहनेका भाव कि इन चरणोंके छूटनेसे मैं परम अभागिनी हूँ।

टिप्पणी २—'*सेवा समय दैअ बनु दीन्हा।*·····' इति। श्रीजानकीजी किसीको दोष नहीं देतीं, वे यह नहीं कहतीं कि कैकेयीने या राजाने वन दिया वा देवताओंने उपाधि की। वे दैवको दोष देती हैं। अपना किया हुआ कर्म दैव कहलाता है [वाल्मीकीय सर्ग २२ में रामचन्द्रजीने 'दैव' का अर्थ लक्ष्मणजीसे यों कहा है—'**यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते। व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥**' (२०) '**सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ। यस्य किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥**' (२२) '**असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते। निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥**' (२४) अर्थात् जिसके विषयमें कभी कुछ न सोचा गया हो वह दैव है, कोई उससे युद्ध नहीं कर सकता क्योंकि वह प्रत्यक्ष है नहीं, प्रत्यक्ष हैं उसके कार्योंके फलभोग। सुख-दुःख, भय, क्रोध, लाभ-हानि, जीवन-मरण तथा इस प्रकारके और भी अज्ञात हेतुक जो कुछ होते हैं वे सब दैवके कार्य हैं।·····प्रयत्नोंके द्वारा प्रारम्भ किये कामको रोककर अनचाहा काम अनायास हो जाता है वह दैवका काम है। (श्लोक २०—२४)] यही सिद्धान्त कौसल्याजीका है। यथा—'*कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥*' (२८२। ३) अच्छे कर्मसे मनोरथ सफल होते हैं, हमारे कर्म कठिन रहे हैं इसीसे मनोरथ सफल न हुआ। सेवा करनेका समय आया था कि मैं आपकी सेवा करती सो वन हो गया, आपके दर्शनसे भी वञ्चित रहूँगी।

टिप्पणी ३—'*तजब छोभ*·····' इति। (क) प्रथम दैवका वन देना कहा अब दैवका अर्थ करती हैं कि '*करम कठिन*·····।' अर्थात् कर्म ही दैव है, यथा—'**पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।**' (ख) '*छोभु*' यह कि जानकीजी अत्यन्त सुकुमारी हैं, वनमें कैसे निर्वाह होगा इत्यादि। (जैसा उनके '*पलँगपीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥*' (५९। ५) से लेकर '*सिय बन बसिहि तात केहि भाँती।*···' (६०। ४-५) तकके वचनोंसे स्पष्ट है।) (ग) '*जनि छाड़िय छोहू*' का भाव कि आपके छोहसे हमको वनमें कुशल और मङ्गल होगा। [श्रीसुमन्त्रजीद्वारा श्रीरामजीने जो संदेसा भेजा है कि '*बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं।*' (१५१। ८ छन्द) वही भाव यहाँ है।]

नोट—कर्मकी प्रधानता मीमांसाशास्त्रमें है।

सुनि सिय बचन सासु अकुलानी। दशा कवनि बिधि कहौं बखानी॥ ६॥
बारहिं बार लाइ उर लीन्ही। धरि धीरजु सिख आसिष दीन्ही॥ ७॥
अचल होउ अहिवातु तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जलधारा॥ ८॥

शब्दार्थ—**अहिवात** (आधिपत्य)—सोहाग।

अर्थ—श्रीसीताजीके वचन सुनकर सास व्याकुल हो गयीं। उनकी दशा मैं किस प्रकार बखानकर कहूँ॥ ६॥ उन्होंने सीताजीको बारम्बार हृदयसे लगा लिया और धीरज धरकर शिक्षा और आशीर्वाद दिया॥ ७॥ तुम्हारा सोहाग अचल रहे जबतक गङ्गा और यमुनामें जलकी धारा है॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*सुनि सिय बचन सासु अकुलानी।*·····' इति। (क) व्याकुल हो जानेका कारण श्रीसीताजीके साधु वचन हैं। इन वचनोंमें उनकी परम साधुता प्रकट होती है। ऐसी साधु बहूका बिछोह समझकर व्याकुल हुईं। [अथवा, यह समझकर व्याकुल हुईं कि प्राणाधार पुत्र तो पिता-वचन-परिपालन-धर्म ग्रहण करके चले तो पुत्रवधू एक अवलम्ब थी, पर वह भी पातिव्रत्यधर्म ग्रहण करके साथ जा रही है तब यह वियोग कैसे सहा जायगा। (वै०)] (ख) '*दशा कवनि बिधि कहौं बखानी*' अर्थात् संवाद तो हमने विस्तारसे कह सुनाया, पर माताकी व्याकुलताकी दशा किस विधिसे वर्णन कर सकूँ। वर्णन करनेकी विधि

अक्षर और अर्थ हैं, यथा—*'कबिहि अरथ आखर बल साँचा।'* (२४१।४) सो दोनों यहाँ नहीं मिलते। वे व्याकुलतासे बोल नहीं सकतीं। बोल न सकीं अतएव प्रेमके मारे *'बारहिं बार लाइ उर लीन्हीं'* (वाल्मीकीयमें कौसल्याजीकी दशा इस प्रकार वर्णित है—'**सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम्। शुद्धसत्त्वा मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम्**॥' (२।३९।३२) अर्थात् शुद्धान्तःकरणवाली कौसल्याकी आँखोंसे दुःख और हर्षके आँसू बहने लगे।)

टिप्पणी—२ *'धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही।'* माताने विचार किया कि यह समय सीताजीको शिक्षा और आसिष देनेका है, हम न बोलेंगी तो उनको संतोष न होगा और हमें पीछे पछतावा होगा कि सीताजी ऐसे ही चली गयीं। अतएव धैर्य धारण किया और उनको पातिव्रत-धर्मका उपदेश किया तदनन्तर आशीर्वाद दिया।

टिप्पणी—३ *'अचल होउ·····'* इति। [(क) *'अहिवातु'* *तुम्हारा*—यहाँ *'तुम्हारा'* बहुवचन शब्द आदरके लिये है। स्त्री-सौभाग्यवती कही जाती है यदि वह पतिके जीते-जी मर जाय। *'तुम्हारा'* शब्द देकर जनाया कि पतिसहित तुम्हारा सौभाग्य अचल रहे। पति भी चिरजीवी हों और तुम भी। (पं०) (ख) *'जब लगि गंग·········'* इति। गङ्गा-यमुनाकी धारा अचल है, कल्पभर इस लोकमें रहती हैं, फिर देवलोकमें और वैकुण्ठमें रहती हैं। श्रीजानकीजीने सब नातोंका खण्डन करके पतिका नाता दृढ़ और मुख्य रखा—*'जहँ लगि नाथ नेह अरु नातें। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते तातें॥'* (६५।३) इसीसे कौसल्याजीने अहिवातकी अचलताका आसिष दिया। पुनः, श्रीजानकीजीने कहा था कि *'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥'* (६५।७) इसीसे कौसल्याजीने *'जब लगि गंग जमुन जल धारा'* कहा।]

पंजाबीजी—गङ्गा-यमुना समस्त नदियोंमें मुख्य, पवित्र और एकत्रगामिनी हैं और 'वर्णोंकी भी सम हैं, प्रभुका दृष्टान्त इन्हींका बनता है।' (मानसमें गङ्गाका वर्ण श्वेत और यमुनाका श्याम कहा गया है, यथा—*'सबिधि सितासित नीर नहाए।'* (२०४।४) *'देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥'* (५) अतः पुत्र और पुत्रवधू दोनोंकी श्याम-गौरि जोड़ीके साम्यसे गङ्गा और यमुना दोनोंको कहा।

दो०—सीतहि सासु असीस सिख दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पद पदुम सिरु अति हित बारहि बार॥६९॥

अर्थ—सासने सीताजीको अनेक प्रकारसे आशीर्वाद और शिक्षाएँ दी। तब सीताजी बड़े प्रेमसे बारम्बार चरणकमलोंमें सिर नवाकर चलीं॥६९॥

नोट—१ माताकी व्याकुलता और स्नेह दिखानेके लिये दो बार आशीर्वाद और सीख देना लिखा—*'धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही'* और *'सीतहि सासु असीस सिख·····।'* वाल्मीकीय सर्ग ३९ में कौसल्याजीका विस्तारसे पातिव्रत्य उपदेश करना लिखा है, विस्तारसे अरण्यकाण्डमें अनुसुइयाजीके प्रकरणमें कहेंगे। (हमने प्र० सं० में यह लिखा था। किंतु पुनर्विचारसे मानसकी कौसल्या मानसकी सीताको वैसा उपदेश न देंगी। केवल श्लोक २४ और २५ में जो धर्मोपदेश है उतना ही यहाँ लिखा जा सकता है। वह यह है—'जो स्त्रियाँ साध्वी हैं वे शीलवती और सत्यवादिनी होती हैं। ऐसी स्त्रियोंके लिये पति ही परम पवित्र सर्वश्रेष्ठ है। निर्वासित होनेपर भी राम तुम्हारे लिये देवता हैं।' श्लोक २०—२३ में जो कहा है उसका उत्तर सीताजीने दिया है कि आप असाध्वी स्त्रियोंके साथ मेरी तुलना न कीजिये। इत्यादि। हाँ, अन्य कल्पोंके रामावतारोंमें वह शिक्षा भले ही हुई हो।

नोट—२ बार-बार प्रणाम करना कहकर कौसल्याजीका बारम्बार आशीर्वाद देना जनाया। अतः प्रत्येक बार सीताजीने प्रणाम किया। पातिव्रत्य धर्मकी शिक्षा मिली, अचल अहिवातका आशीर्वाद मिला। अतएव बड़े प्रेमसे सिर नवाया। कुछ लोग कहते हैं कि *'अति हित'* से यह भाव भी निकलता है कि आशीर्वादसे अत्यन्त हित समझकर बार-बार प्रणाम करती हैं, अथवा राम-संयोग सम्बन्धसे *'अति हित'* कहा।

नोट—३ *'पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा'* यह प्रकरण भुशुण्डिजीकी मूलके अनुसार यहाँ समाप्त होता है क्योंकि इसीके पश्चात् श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद है। नहीं तो यह प्रकरण *'अति बिषाद बस लोग लोगाईं'* पर समाप्त हो गया था।

'श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद'—प्रकरण

समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥ १॥
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥ २॥

अर्थ—जब लक्ष्मणजीने यह समाचार पाया तब वे उदासमुख व्याकुल हो उठ दौड़े॥ १॥ शरीर काँप रहा है, रोएँ खड़े हो गये हैं, नेत्रोंमें जल भरा है। उन्होंने श्रीरामजीके चरण पकड़ लिये, वे अत्यन्त प्रेमसे अधीर हो गये हैं॥ २॥

नोट—१ यहाँ लक्ष्मणजीको खबर देनेवालोंकी योग्यता और प्रवीणता दिखाते हैं। श्रीकौसल्या-राम-संवादके और श्रीराम-जानकी-संवादके बीचमें लक्ष्मणजीका पहुँचना उचित न था। जब श्रीसीतारामजी महलसे बाहर निकल आये तब लक्ष्मणजीके आनेका उचित अवसर था, ऐसा जानकर उसी समय सेवकोंने उनको समाचार दिया।

नोट—२ यहाँ *'लछिमन'* शब्द भी बड़ा सुन्दर है। *'लच्छन धाम राम प्रिय'''' गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार।'* (१। १९७) और *'बारेहि तें निजहित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'* (१। १९८। ३) में जो नाम दिया था, वही लछिमन नाम यहाँ देकर जनाया कि ये भगवत्-कैङ्कर्यके लक्षणोंसे सम्पन्न हैं; अपना हित, स्वामी, रामको ही जानकर उन्हींके चरणोंमें लगे रहते हैं; अतएव वे बिछोह होता देख व्याकुल हो गये।

नोट—३ समाचार सुनते ही लक्ष्मणजी बड़े व्याकुल हो गये। उनकी षट् इन्द्रियों, अङ्गोंकी व्याकुलता यहाँ दिखायी है—*'समाचार पाए'* से श्रवण इन्द्रिय, *'बिलख बदन'* से मुख इन्द्रिय, *'उठि धाए'* से चरण इन्द्रिय, *'कंप पुलक तन'* से हृदय (एवं त्वक् इन्द्रिय), *'नयन सनीरा'* से नेत्र और *'गहे चरन'* से हस्त इन्द्रियकी विकलता जनायी। *'अति प्रेम अधीरा'* से उनका प्रेम और *'कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन''''* से प्रेमकी दशा कही। (ख) *'बिलख बदन'* से जनाया कि अश्रु आदिके कारण उनका मुख विकृत हो गया था, मुखकी कान्ति जाती रही थी। *'ब्याकुल'* से जनाया कि श्रीरामजी मुझे साथ ले जायँगे या नहीं, इस शंकासे वे बहुत दुःखी हुए और वे इस दुःखको सह न सके। यथा—'**बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन्।**' (वाल्मी० २। ३१। १) कम्पसे जनाया कि हृदय काँप उठा, यथा—*'उर धकधकी''''''।'* (गी० २। ११)

नोट—४ (क) रामवनवासका वृत्तान्त सुनते ही लक्ष्मणजीमें अष्ट सात्त्विक भावोंमेंसे सात भाव उत्पन्न हुए—*'बिलख बदन'* वैवर्ण्य, *'कम्प'* वेपथुः, *'नयन सनीरा'* अश्रु, *'कहि न सकत कछु'* स्वरभङ्ग कण्ठावरोध, *'चितवत ठाढ़े'* स्तम्भ, *'मीनु दीनु जल तें काढ़े'* स्वेद, और *'पुलक तन'* रोमाञ्च है। केवल एक भाव 'प्रलय' अर्थात् मूर्छा वा मृत्यु नहीं हुआ। यदि श्रीरामजी यह न कहते कि *'माँगहु बिदा मातु सन'''''* तो अवश्य मृत्यु हो जाती। (प० प० प्र०) (ख) इतने भाव एक ही समयमें और किसीमें प्रकट नहीं हुए हैं। इससे लक्ष्मणजीके प्रेमको अनुपम और असाधारण सूचित किया। *'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥'* (६। ६०) से भी इस भावकी पुष्टि होती है। (प० प० प्र०)

नोट—५ *'गहे चरन'*, यथा—'**स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।**' (वाल्मी० २। ३१। २)

कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीनु जनु जल तें काढ़े॥ ३॥
सोचु हृदय बिधि का होनिहारा। सब सुख सुकृत सिरान हमारा॥ ४॥

अर्थ—वे कुछ कह नहीं सकते, खड़े (उनकी ओर) देख रहे हैं; श्रीलक्ष्मण ऐसे दीन हो रहे हैं

मानो जलसे निकाले जानेपर मछली दीन-दुःखी हो रही हो॥ ३॥ हृदयमें सोचते हैं कि हे विधाता! क्या होनेवाला है? क्या हमारा सब सुख और सुकृत समाप्त हो गया?॥ ४॥

टिप्पणी—१ ऊपर कह आये कि अत्यन्त प्रेमसे अधीर हैं, अब दिखाते हैं कि प्रेमके मारे मुखसे वचन नहीं निकलता। यथा—*'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही।'* (१। २११) कुछ नहीं कह सकते क्योंकि सेवकको बिना स्वामीका रुख पाये न बोलना चाहिये। *'ठाढ़े'* से जनाया कि पहले चरणमें लपटे, फिर उठकर अब हाथ जोड़े खड़े हैं जैसा आगे स्पष्ट कहते हैं—*'राम बिलोकि बंधु कर जोरे।'*

टिप्पणी—२ मीनका दृष्टान्त देकर सूचित करते हैं कि ये बिना श्रीरामजीके जी नहीं सकते। यथा—**'न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥'** (वाल्मी० २। ५३। ३१)

टिप्पणी—३ *'सब सुख सुकृत सिरान हमारा'* इति। (क) *'सब सुख'* अर्थात् रामजीहीमें हमें माता-पिता, भ्राता, गुरु, स्वामी इत्यादि सबका सुख था, और *'सुकृत'* अर्थात् हमारा भागवत धर्म, प्रभुका कैंकर्य। (वा, सुखरूप श्रीरघुनाथजी और सुकृतफल-रूप उनकी सेवा है।) (रा० प्र०) सुकृतसे सुख होता है। सुकृतके चुकनेसे सुखका भी अन्त हो जाता है। पुनः, सुकृतसे श्रीरामजानकीजीकी प्राप्ति होती है, यथा—*'को जानै केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥'* (१। ३३५। ४) *'लोचनगोचर सुकृत फल मनहुँ किये बिधि आनि।'* (१०६) इत्यादि। सुकृतका फल ब्रह्मा देते हैं, अतः कहा कि *'बिधि का होनिहारा।'** *'का होनिहारा'* का भाव अगली चौपाईमें है।

मो कहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा॥ ५॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरें। देह गेह सब सन तृनु तोरें॥ ६॥
बोले बचनु राम नय नागर। सील सनेह सरल सुख सागर॥ ७॥
तात प्रेम बस जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू॥ ८॥

शब्दार्थ—'तृनु तोरें=नाता-रिश्ता तोड़े हुए। खत्रियोंमें अब भी रीति है कि शवके जलनेपर जब सम्बन्धी स्नानके लिये जाते हैं तब तिनका लेकर उसके दो टुकड़े करके पीछे फेंक देते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि आजसे इस मृतक प्राणीसे हमारा सम्बन्ध टूट गया। तृण तोड़ना मुहावरा इसीसे निकला है। **'नय नागर'**=नीतिमें नागर हैं। **'नागर'**=चतुर, निपुण।

अर्थ—मेरे लिये श्रीरघुनाथजी क्या कहेंगे! घर रखेंगे या साथ ले चलेंगे॥ ५॥ श्रीरामचन्द्रजीने भाईको हाथ जोड़े और शरीर, घर तथा (नातेदार आदि) सभीसे तिनका तोड़े हुए देखा॥ ६॥ तब नीतिमें चतुर, शील, स्नेह, सरलता और सुखके सागर श्रीरामचन्द्रजी ये वचन बोले॥ ७॥ हे तात! अन्तमें आनन्द-मङ्गल होगा ऐसा हृदयमें समझकर प्रेमवश कादर (अधीर) मत हो॥ ८॥

वि० त्रि—लक्ष्मणजीने देखा कि जगदम्बा साथमें हैं, अतः विचार करते हैं कि इन्हें तो अति-स्नेह देखकर साथ ले लिया, पर मैं भी बिना इनके नहीं रह सकता—*'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥'* देखें मुझे क्या कहते हैं। रघुनाथ हैं, इनकी जो आज्ञा होगी वह माननी ही होगी। यदि घर रखेंगे तो घर रहना पड़ेगा, और यदि साथमें लेवें तो साथ जाऊँगा। मैं इनका वचन हटा नहीं सकता। ये रघुनाथ हैं। बहुत सम्भव है कि कुल-रक्षाके लिये मुझे घर रखें, पर मेरा साथ तो कभी

* सू० मिश्र—भाव यह कि सुख भोगनेसे पुण्य क्षीण होता है सो दशा तो मेरी नहीं है, अभी तो मेरी उम्र भी कुछ बड़ी नहीं है, पर रामजी तो जाते हैं; मेरा सुख क्या, मेरे कुल तथा देशमात्रका सुख चला गया।

छूटा नहीं है। मैं तो इनके अतिरिक्त किसीको जानता नहीं, अतः मुझे तो न छोड़ना चाहिये, देखें क्या होता है। इस भाँति लक्ष्मणजीका हृदय अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है।

टिप्पणी—१ यहाँ पहले घरमें रखना कहते हैं, पीछे साथ लेना। क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी मुझे माता-पिता और रघुकुलके लिये घरपर रखेंगे क्योंकि वे रघुनाथ हैं। आगे ऐसा कहा ही है, यथा—*'गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सब कर परितोषू।'* यहाँ सन्देह अलङ्कार है।

काष्ठजिह्वा स्वामीजी—१ (क) *'रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा'* यह दुविधा मनमें हुई क्योंकि विचारते हैं कि—सीताजीका तो पद (अधिकार) था। वे अर्द्धाङ्गिनी हैं। अग्निकी साक्षी देकर गुरुजनोंके बीचमें प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं कि साथ रखेंगे, दूसरे वानप्रस्थ धर्म अकेले होता भी नहीं। और मैं तो दास हूँ, मेरा 'पद' ही क्या है, मैं तो परतन्त्र हूँ। यथा—*'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥'''*' (ख) *'राम बिलोकि बंधु कर जोरें।''''*' ऐसा ही गीतावलीमें कहा है—*'ठाढ़े हैं लषन कमल कर जोरें। उर धकधकी न कह कछु सकुचनि प्रभु परिहरत सबन त्रिन तोरे॥ कृपासिंधु अवलोकि बंधु तन प्रान कृपान बीर सी छोरे।'* (गी० २।११)

टिप्पणी—२ *'राम बिलोकि'''*' इति। 'राम' का भाव कि सबमें रमण करते हैं, अतः लक्ष्मणजीके हृदयकी बात जानते हैं कि देह-गेह सबसे स्नेह और ममत्व तृणके समान तोड़े हैं*। यहाँ स्नेहका नाम नहीं लेनेमें तात्पर्य यह है कि उनके हृदयमें किसीका स्नेह नहीं है। इसीसे चौपाईमें भी स्नेह शब्द नहीं रखा। [*'कर जोरे'* से दीनता दर्शित की कि मुझे भी सङ्ग ले चलिये। आप ही मेरे दोनों लोकोंके साधनभूत हैं।—(सू० मिश्र)]

टिप्पणी—३ नयनागर, शीलसागर आदि विशेषण सहेतुक हैं। रामजीके प्रत्येक वचनमें नीति, शील, स्नेह, सरलता और सुख पाँचों हैं। आगे लक्ष्मणजीको घरमें रहनेकी आज्ञा दे रहे हैं, उसमें नीतिका उपदेश करेंगे, अतएव *'नय नागर'* नीतिनिपुण कहा। नीतिका उपदेश प्रधान है, इसीसे *'नय नागर'* यह गुण प्रथम कहा। [अथवा, इससे जनाया कि प्रथम नीतिका उपदेश करेंगे और नगरमें रहनेको कहेंगे। (प० प० प्र०)] (ख) *'शील'*—जिन माता-पिताने वनवास दिया उन्हींके लिये सब प्रबन्ध कर रहे हैं, मनमें किसी प्रकार भी उनकी ओरसे कुटिलता या छल इत्यादि नहीं है, उनके अपकारपर दृष्टि नहीं है। यही शील और सरलता है। *'सनेह सुख सागर'*—श्रीलक्ष्मणजीको वनमें कष्ट न हो इससे भी घर रहनेको कहते हैं, यह स्नेह है। और माता-पिता-परिजन-प्रजा—सबको सुख देनेका उपदेश करेंगे अतः स्नेह और सुखसागर कहा। [श्रीबैजनाथजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि यद्यपि श्रीरामजी शील-स्नेह आदिके सागर हैं तथापि नीतिके वचन बोले। पाँड़ेजीका मत है कि *'सनेह सभीत'* देखकर साथ लेंगे, अतएव शील-स्नेह-सागर कहा। प० प० प्र० स्वामीका भी मत है कि *'सील''''सागर'* विशेषणोंसे सूचित करते हैं कि यद्यपि प्रथम नीतिका उपदेश करेंगे फिर भी लक्ष्मणका त्याग नहीं करेंगे। *'मोरें अधिक दास पर प्रीती'* यह गुण 'शीलसागर' कहकर सूचित किया। प्रभुका शील-गुण जानकर ही लक्ष्मणजीने आगे कहा है—*'मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई।'* (७२।८) *'रहहु तात असि नीति बिचारी'* तक नयनागरत्व बताया।]

टिप्पणी—४ *'तात प्रेम बस जनि कदराहू'*—रामजीने यह वचन कहे, क्योंकि लक्ष्मणजी प्रेमके वश हैं, यथा—*'गहे चरन अति प्रेम अधीरा'* और कादर हो रहे हैं यथा—*'लागि अगम अपनी कदराई।'* परिणाममें उछाह होगा। इस कथनका आशय यह है कि माता-पिता, गुरु-स्वामीकी शिक्षा माननेसे अन्तमें भलाई होगी, अथवा, माता-पिताकी आज्ञा पालकर हम आयेंगे तब राज्य करेंगे यह 'उछाह' होगा।

वि० त्रि०—*'तात प्रेम बस''''उछाहू'* इति। लक्ष्मणजीकी दशा देखकर सरकारने कहा कि तुम वीर हो, वीरको धैर्य न छोड़ना चाहिये। तुम प्रेमवश धैर्य छोड़ रहे हो। यह तुम्हें शोभा नहीं देता। यह दुःख नहीं है, सात्त्विक सुख है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। '**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।**

* यहाँ 'राम' शब्द पूर्वकालिक क्रियाका कर्त्ता है।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥' (गीता १८। ३७) सात्त्विक सुख तो पहिले विष-सा मालूम ही होता है, परिणाम उसका अमृत-सा होता है। पिताका वचन मानकर लौटेंगे, तब कैसा उछाह होगा, इसे सोचो।

दो०—मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनम जग जाय॥ ७०॥

अस जिय जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥ १॥

अर्थ—जो लोग माता, पिता, गुरु, स्वामीकी शिक्षा स्वाभाविक ही शिरोधार्य करके करते हैं उन्होंने ही जन्म लेनेका फल पाया (अर्थात् उनका जन्म सुफल हुआ) नहीं तो संसारमें जन्म व्यर्थ है॥ ७०॥ हे भाई! हृदयमें ऐसा जानकर मेरी शिक्षा सुनो और माता-पिताके चरणोंकी सेवा करो॥ १॥

वि० त्रि०—'*मातु पिता गुरु······सेवकाई।*' इति। '**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव**' यह वेदका अनुशासन है। इनकी सेवा करना धर्म है। '*आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।*' अतः स्वभावसे ही इनकी शिक्षा माननी चाहिये। उन्हींकी आज्ञा मानकर मैं वन जा रहा हूँ। तुम्हें तो वन जानेकी आज्ञा नहीं है। अतः मेरे जन्मका साफल्य वन जानेमें है, और तुम्हारे जन्मका साफल्य घर रहकर उनकी सेवा करनेमें है। ऐसा न करनेसे जन्म ही व्यर्थ हो जायगा। यदि कहो कि आप स्वामी हैं, ज्येष्ठ भ्राता हैं, पिताके समान हैं, मैं आपकी सेवा करूँगा, तो मैं शिक्षा देता हूँ कि तुम माता-पिताकी सेवा करो, यही मेरी सेवा है।

टिप्पणी—१ (क) '*मातु पिता गुरु स्वामि सिख*······' इति। श्रेष्ठकी गणना प्रथम करते हैं। स्वामीसे गुरु श्रेष्ठ, गुरुसे पिता और पितासे माता। इनका सिखावन सिर धरके अर्थात् आदरसे करे और 'सुभाय' करे अर्थात् सहज स्वभावसे करे, किसीके कहनेसे-सुननेसे नहीं। (ख) शिक्षापर न चलने, आज्ञाको शिरोधार्य न करनेका फल पूर्व कहा जा चुका है कि '*सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥*' (६४) और यहाँ बताते हैं कि जो इनकी सीख सिर धरकर करते हैं उनका जन्म सफल होता है। कथनका तात्पर्य यह है कि हम तुम्हारे स्वामी हैं हमारा कहना मानो।

टिप्पणी—२(क) '*सुनहु सिख भाई*' यहाँ भाई कहनेका भाव यह है कि तुम हमारे भाई हो, मैं माता-पिताकी आज्ञा पालन करने जा रहा हूँ, तुम उनकी सेवा करो, यही काम भाईका है। इसी आशयसे भरतजीको भी 'भाई' कहा है। यथा—'*पितु आयसु पालिहिं दुहुँ भाई।*' (३१५। ४) (ख) '*करहु मातु पितु पद सेवकाई*' इति। भाव कि एककी सेवासे जन्म सफल होता है और तुमको तो माता-पिता-गुरु-स्वामी सबकी सेवा प्राप्त है—हम तुम्हारे स्वामी हैं, तुम छोटे भाई हो। छोटा भाई सेवकके समान है, यथा—'*जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥*' अतएव तुम हमारी शिक्षा मानो। [जिस धर्मपर आप स्वयं आरूढ़ हैं, उसीका उपदेश लक्ष्मणजीको कर रहे हैं। (पाँड़ेजी)] (ग) '*पद सेवकाई*'—भाव कि पदकी सेवा चौथी भक्ति है, यथा—'**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**' ['*करहु मातु पितु पद सेवकाई*' यहाँ शील-स्नेह-सागर और '*रहहु करहु सब*··' यहाँ सुख-सागर विशेषणोंकी सङ्गति दिखायी—(खर्रा)]।

भवन भरत रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥ २॥
मैं बन जाउँ तुम्हहिं लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥ ३॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥ ४॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥ ५॥

अर्थ—घरपर भरत-शत्रुघ्न नहीं हैं, राजा बूढ़े हैं और उनके मनमें मेरा दुःख है॥ २॥ इस परिस्थितिमें मैं तुमको साथ लेकर वन जाऊँ तो अवध सभी तरहसे अनाथ (बिना मालिकके) हो जायगा॥ ३॥ गुरु,

पिता, माता, प्रजा, परिवार सभीपर भारी दुःसह (कठिनतासे जो सहा जा सके, न सहने योग्य) दुःखका भार आ पड़ेगा॥ ४॥ अतः यहाँ रहकर सबका समाधान-संतोष करना, नहीं तो हे तात! बड़ा दोष होगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमारजी—*'राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं'* इति। तात्पर्य यह कि राजा बूढ़े हैं और मेरे वियोगका दुःख उनको ऐसा है कि वे उसे सह नहीं सकते। हम चार भाइयोंमेंसे इस समय उनके पास कोई नहीं है कि जो उनको सँभाले, संतोष दे। न जाने विरहमें शरीर छूट जाय और हममेंसे एक भी पुत्र पास न हुआ तो अच्छा नहीं, अतः बड़ा अनर्थ है। [दूसरे, न जाने कोई शत्रु समाचार पाकर चढ़ाई कर दे तो नगर अनाथ होनेसे इनकी रक्षा भी कोई नहीं कर सकेगा। राज्य और घरके प्रबन्धमें राजाका वृद्धपन ही पर्याप्त बाधक है, उसपर भी पुत्रवियोगका शोक दूसरा प्रबल कारण भी विद्यमान होनेसे यहाँ दूसरा समुच्चय अलङ्कार है। [(वीर)]

टिप्पणी—२ *'होइ सबहि बिधि अवध अनाथा'* इति। श्रीरामजीको सबसे अधिक चिन्ता इस समय राजाकी है, अतः उनका दुःख प्रथम कहा; फिर अयोध्याका दुःख कहा क्योंकि यह उन्हें प्रिय है, यथा—*'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना""अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।'* (७। ४। ४) *'सब बिधि'*—वही जो प्रथम ही कह आये कि—*'भवन भरत रिपुसूदन नाहीं'*, दूसरी *'राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं'*, तीसरी मैं वन जाता हूँ और मैं तुम्हें साथ ले जाऊँ यह चौथी विधि है इति। सब विधि अनाथ होगी। कोई नाथ इसका नहीं रहा। मिलान कीजिये—**'अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृतः।'** (मेरे चले आनेसे वृद्ध राजा इस समय अनाथ हो गये हैं वे अपनी रक्षा कैसे कर सकते हैं), **'ध्रुवमद्य पुरी राम अयोध्यां युधिनां वर।'** आपके चले जानेसे अयोध्या अवश्य पुत्रहीन हो गयी होगी।) (वाल्मी० २।५३।८)

टिप्पणी—३ *'दुसह दुख भारू'* भाव कि मेरा वियोगदुःख सबके हृदयमें समा जायगा, उससे उनका उबरना कठिन है; क्योंकि हम सबको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, यथा—*'प्रानहु तें प्रिय लागत सब कहँ राम कृपाल।'* (१। २०४) दुःसह दुःख होगा अतः उन्हें समझाने, संतोष देनेकी जरूरत पड़ेगी। *'होइहि बड़ दोषू'* का भाव कि एकपर दुःख पड़नेसे दोष होता है और यहाँ तो सभीपर विपत्ति आ पड़ी है। पुनः, दुःख पड़नेसे दोष है और इनको दुःसह दुःख होगा अतएव 'बड़ा दोष' होगा।

वि० त्रि०—*'रहहु करहु""दोषू'* इति। मैं तो पिता-माताकी आज्ञासे वन जा रहा हूँ। मेरे चले जानेपर सिवा तुम्हारे राज्य और घरका सँभालनेवाला रह कौन जाता है। चक्रवर्तीजी इस समय इस योग्य नहीं हैं कि राज-काज सँभाल सकें। राजाका एकमात्र धर्म प्रजापालन है, उसमें त्रुटि आना बड़ा भारी दोष है। अतः यह बड़ा भारी दोष तुम्हें होगा। अतः तुम अपने कर्तव्यसे च्युत न हो, तुम घरमें रहकर गुरु-पिता-माता-प्रजा और परिवार सबका परितोष करो।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥ ६॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लषनु भए ब्याकुल भारी॥ ७॥
सिअरे बचन सूखि गए कैसें। परसत तुहिन तामरसु जैसें॥ ८॥

शब्दार्थ—**'अधिकारी'**=भागी। **सिअरे**=शीतल।

अर्थ—जिसके राज्यमें प्यारी प्रजा दुःखी हो, वह राजा निस्संदेह नरकका अधिकारी है॥ ६॥ ऐसी नीति है इसे विचारकर (घरपर) रहो। यह सुनते ही लक्ष्मणजी बड़े व्याकुल हो गये॥ ७॥ शीतल वचनोंसे कैसे सूख गये जैसे पालेके स्पर्शसे कमल॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमारजी—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी'* इति।—भाव यह कि जो प्रजा चोर, व्यभिचारी, चुगलखोर आदि हो वह दुःखी रहे तो राजाको नरक नहीं होता, परंतु 'प्रिय' प्रजा अर्थात् जो धर्मात्मा हैं वे दुःखी हों तो अवश्य नरक होता है। पुनः, भाव कि राजाका धर्म है कि वह प्रजाको प्राणके समान प्रिय समझे, यथा—*'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय*

प्रान समाना॥' (१७२। ४) राजा धर्मिष्ठ हैं, अतः यहाँ प्रजाको 'प्रिय' कहा। और श्रीरामजीको तो प्रजा अति प्यारी है, यथा—*'अति प्रिय मोहि यहाँके बासी।'* (७। ४) यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है।

टिप्पणी—२ *'अवसि नरक अधिकारी'* इति। अवश्यका भाव कि और अधर्म राजाके लिये सामान्य हैं पर प्रजाका दुःखी रहना यह अधर्म विशेष है, महान् अधर्म है, इसीसे अवश्य नरक होता है। अभिप्राय यह है कि तुम्हारे यहाँ रहनेसे सभी बातें बन जायँगी।

टिप्पणी—३ *'रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत·····'* इति।—*'असि नीति'* अर्थात् हमारे रहते राजा नरकके भागी न हों। *'ब्याकुल भारी'* का भाव कि व्याकुल तो वन जानेका समाचार पाते ही हो गये थे, यथा—*'ब्याकुल बिलखि बदन उठि धाए';* और अब नीति सुनकर भारी व्याकुल हुए। पहले भावी वियोग समझकर व्याकुल हुए थे और अब तो घर रहनेकी आज्ञा देकर श्रीरामजीने वियोगका निश्चय कर दिया; अतएव भारी व्याकुल होना कहा। *'बोले बचन राम नयनागर'* उपक्रम है और *'रहहु तात असि नीति बिचारी'* यह उपसंहार है।

टिप्पणी—४ *'सिअरे बचन सूखि गए कैसें।·····'* इति। (क) श्रीरामजीने धर्मका उपदेश किया। धर्म शीतल है अतएव वचनको शीतल कहा। (ख) तामरसकी उपमा देनेका भाव कि लक्ष्मणजीका शरीर कमलके समान कोमल है। तापसे सूखना चाहिये पर यहाँ शीतल वचनसे सूख गये, अतएव तुहिन और कमलकी उपमा दी। (ग) लक्ष्मणजीकी व्याकुलता दर्शित करानेके लिये मीनकी उपमा दी थी—*'मीन दीन जनु जल ते काढ़े'* और वचन सुनकर शरीर सूख गया, इससे तुहिन तामरसकी उपमा दी। यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है।

पण्डितजी—जैसे किसी योगीको गृहस्थ धर्मका उपदेश किया जाय तो वह घबड़ा जाय वैसे ही ये घबड़ा गये। जिसका जिसमें अधिकार है, उसको उसीसे सुख प्राप्त होता है। लक्ष्मणजी भागवतधर्मके अधिकारी हैं, वे इस विशेष धर्मपर आरूढ़ हैं, वे तो *'सब तजि करौं चरन रज सेवा'* ही चाहते हैं और यही जन्मसे करते आ रहे हैं। उनको नीतिके उपदेशसे कैसे सुख हो सकता है। वे अपने हृदयकमलको भक्तिके लिये स्वच्छ किये हुए हैं, उनको नीतिका उपदेश ऐसा है जैसा कमल के लिये पाला; जिससे भक्तिका नाश सम्भव है। अतएव वे बहुत व्याकुल हो गये।

दो०—उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ॥ ७१॥

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥ १॥

अर्थ—प्रेमके वश उत्तर नहीं सूझ रहा है, घबड़ाकर उन्होंने (श्रीरामजीके) चरण पकड़ लिये (और बोले कि) हे नाथ! मैं दास हूँ, आप स्वामी हैं, अतः आप त्याग दें तो मेरा क्या वश है॥ ७१॥ हे गोसाईं! आपने मुझे बड़ी सुन्दर शिक्षा दी, पर मुझे अपनी कायरताके कारण वह अगम लगी॥ १॥

टिप्पणी—१(क) *'उतरु न आवत प्रेम बस'* इति। भाव कि यह न समझो कि अज्ञानके वश उत्तर नहीं आता, उत्तर दे सकते हैं पर प्रेमसे अधीर हैं इससे जवाब मुँहसे नहीं निकलता। व्याकुलताके बढ़नेसे उन्होंने चरण पकड़ लिये। देखिये प्रथम जब आये तब भी उन्होंने *'गहे चरन अति प्रेम अधीरा'* और यहाँ फिर *'प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।'* बार-बार चरण पकड़कर सूचित करते हैं कि मुझे इनकी सेवा प्राप्त रहे। (ख) *'तजहु त कहा बसाइ'*—भाव कि स्वामीकी आज्ञा सुनकर सेवकको उत्तर तक न देना चाहिये, यथा—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥'* (२६९। ५) तो फिर मेरा जोर कौन! [यहाँ साथ चलनेका कार्यसाधन विरुद्ध-क्रियासे करना कि आप स्वामी हैं यदि त्याग देते हैं तो मेरा वश ही क्या 'दूसरा व्याघात अलङ्कार' है। (वीर)] (ग) *'दासु मैं'* । यहाँ ममकार दासत्वके लिये है, अहङ्कार स्वामीके लिये है जो प्रशंसनीय है। यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'*

टिप्पणी—२ (क) *'सीख'* को नीकि कहनेका भाव कि श्रीरामजीने इस उपदेशकी बड़ाई की है, यथा—*'मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय। लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर''''''।'* (७०) अतएव ये भी उसे *'नीकि'* कहते हैं। (ख) *'अगम लागि आपन कदराईं'* इति। अर्थात् इसमें मेरा दोष है कि मेरे मनमें दृढ़ता नहीं होती। आप तो भली ही कहते हैं। (सू० मिश्र—*'अगम लागि'*—वेद-तुल्य वचन अप्रिय लगे।)

नर बर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥ २॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥ ३॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रेष्ठ हैं, धीर हैं और धर्मकी धुरीको धारण करनेवाले हैं, वे ही वेदधर्म और नीतिके अधिकारी हैं॥ २॥ मैं तो नन्हा-सा बच्चा हूँ, प्रभुके स्नेहमें पला हूँ। क्या हंस मन्दराचल या सुमेरु पर्वतको उठा सकते हैं?॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'नर बर धीर धरम धुर धारी।'* इति। *'निगम नीति'* में धर्म वर्णित है। *'निगम नीति'* अर्थात् वेदोक्त नीति, अथवा वेदधर्म और नीति। तात्पर्य कि इनके अधिकारी धर्म-धुरन्धर हैं जो धर्म करनेवाले हैं। पुनः, धर्मधुरन्धर हैं इससे धर्म धारण करनेमें धीर हैं, घबड़ाते नहीं, धर्मके लिये बड़े-बड़े क्लेश सहते हैं। और धर्म धारण करनेमें धीर हैं अतएव वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं।' (पांड़ेजी कहते हैं कि इसमें ध्वनि यह है कि नरश्रेष्ठ आप हैं, आप ही इसके अधिकारी हैं, आप राज्यका भार और धर्मका भार उठा सकते हैं, मैं नहीं।)

टिप्पणी—२ *'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।''''''* इति। (क) प्रथम अपनेको शिशु कहा फिर मराल। तात्पर्य कि *'बाल मराल कि मंदर लेहीं।'* *'मंदरु मेरु'*=सुमेरु पर्वत। यथा—*'गहि मंदर बंदर भालु चले सो मनो उनये घन सावनके।'* (कवित्तरामायण)—अथवा, *'मंदरु मेरु'*=मन्दराचल और सुमेरु।* (ख) *'मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय''''।'* (७०) श्रीरघुनाथजीका यह वाक्य अर्थात् माता, पिता, गुरुकी सेवा वेद-धर्म है, वही सुमेरु है। प्रजापालन अर्थात् जो प्रभुने कहा था कि *'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'* वह नीति है, यही मन्दराचल है—मैं इन दोनोंमेंसे किसीको उठा लेनेका अधिकारी नहीं हूँ। तात्पर्य कि जिनपर श्रीरामजी स्नेह करते हैं उनको निगम-नीति मन्दर-मेरुके समान बोझारूप हो जाते हैं। (श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि प्रथम धर्म कहा है तब नीति। अतः धर्म मन्दर है और नीति मेरु है।) (ग) *'प्रभु सनेह प्रतिपाला'* का भाव कि जो मुझे स्नेहसे पाला है तो मेरे स्नेहको पालिये, मुझपर पहाड़ न रखिये।

रा० प्र०—यहाँ लक्ष्मणजी जनाते हैं कि भगवत्-शरणागतको दूसरा कोई धर्म नहीं है, एक भगवत्-शरणागति ही धर्मका वह अधिकारी है। निगम-नीति राज-व्यवहार मुझसे नहीं हो सकते हैं।

टिप्पणी—३ पण्डितजी—बालक अपना तन पालनेको समर्थ नहीं तब प्रजाका पालन कैसे कर सकता है? जो प्रौढ़ हो वह जानता-समझता है, वह न करे तो उसे दोष है और मैं तो शिशु हूँ, मुझे उसका किंचित् बोध नहीं। मन्दराचल सौ योजनका है और सुमेरु लक्ष योजनका। उसे मराल नहीं उठा सकता तो मैं बाल मराल कैसे उठा सकता हूँ। जड़ पर्वत भार है वैसे ही राज्य है। मराल विवेकके लिये

* सुमेरु पर्वत—यह सोनेका पर्वत कहा जाता है। कहते हैं कि इसपर इन्द्रादि देवताओंके लोक हैं। उत्तर ध्रुवके ठीक नीचे है, सूर्य आदि ग्रह इसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। भागवत स्कन्ध ५ अ० १६ में इसका विस्तृत वर्णन है। 'मन्दराचल' वह पर्वत है जिससे क्षीर-सागरके मथनेके समय मथानीका काम लिया गया था। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'मेरु मन्दर' नामका एक पर्वत सुमेरु पर्वतके समीप है; इसके आधारपर कुछ लोग यह अर्थ करते हैं—'मन्दर मेरु' पर्वतको क्या हंस उठा सकता है? (नहीं); इसे तो कच्छप अवतारमें ईश्वरने ही धारण किया था। यहाँ काकुद्वारा वक्रोक्ति अलङ्कार है।

है, बोझा ढोनेके लिये नहीं। [वा, जैसे हंसोंका धर्म है शुद्ध क्षीरपान, मुक्ताभोजन और मानसवास; वैसे ही मेरा धर्म है आपका स्नेह, आपकी सेवा और आपकी समीपता। (बै०)] माता-पिता सुमेरुकी सेवा हैं, यह वेद-धर्म है जिससे परलोक बनता है और प्रजापालन मन्दराचलरूप है, यह लोक-धर्म है। इससे जनाया कि मुझे लोक और वेद दोनोंमेंसे किसीका अधिकार नहीं। लोक-वेद-धर्म मेरे लिये भाररूप हैं।

गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥ ४॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ ५॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥ ६॥

अर्थ—मैं गुरु, पिता, माता किसीको नहीं जानता। हे नाथ! मैं स्वभावसे ही कहता हूँ, विश्वास मानिये॥ ४॥ जहाँतक जगत्‌में स्नेह सम्बन्ध, प्रीति और प्रतीति वेदोंने आप गान किया है (वा, वेद जो आपका वचन है उसने गाया है)॥ ५॥ हे स्वामी! हे दीनबन्धु! हे हृदयकी जाननेवाले! मेरे वह सब एक आप ही हैं॥ ६॥*

टिप्पणी—१ *'गुरु पितु मातु प्रजा……'* इति। (क) श्रीरामचन्द्रजीके *'गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सब कर परितोषू'* इन वचनोंका उत्तर यह वचन है। (ख) *'कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू'* इति। भाव कि मैं वेद-पुराणादिकी सुनी नहीं कहता और न उनको सुनकर मुझे ऐसी धारणा हुई है; वरन् स्वाभाविक, जन्मसे ही, बिना सीखे ही मेरे मनकी ऐसी वृत्ति है। यथा—*'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'* (१। १९८। ३) ऐसी सहज वृत्तिका होना कठिन है। इसीसे कहते हैं कि इस बातपर विश्वास कीजिये कि मैं कुछ आपके साथ चलनेके लिये स्नेहकी बात बनाकर नहीं कहता हूँ।

टिप्पणी—२ *'जहँ लगि जगत……स्वामी'* इति। पहले गुरु-पिता-माताको गिनाकर तब कहा कि जहाँतक स्नेहका सम्बन्ध है मैं गुरु आदि किसीको नहीं जानता, इस वाक्यमें आस्तिक धर्म (आस्तिकता) नहीं रह जाती। पर जब यह कहते हैं कि माता-पिता-गुरु आदि मेरे सब आप ही हैं तो यह परम धर्म हो गया। (क्योंकि इसीका आदेश भगवान्‌ने यत्र-तत्र किया है। जैसे—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥'* (५। ४८) *'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥'* (३। १६। १०) **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** (गीता १८। ६६)

टिप्पणी—३ *'दीनबंधु उर अंतरजामी'* इति। भाव कि मैं दीन हूँ आप दीनबन्धु हैं। लक्ष्मणजीकी दीनता प्रथम ही कह आये हैं, यथा—*'कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। दीन मीन जनु जल ते काढ़े॥'* अर्थात् जैसे जल बिना मछली वैसे ही तुम्हारे बिना मैं। यदि मैं झूठ कहता होऊँ तो आप अन्तर्यामी हैं; आप सबके जीकी जानते हैं, मैं झूठ बनाकर कैसे कह सकता हूँ?

धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥ ७॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥ ८॥

अर्थ—धर्म और नीतिका उपदेश तो उसको करना चाहिये जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य या सद्‌गति प्यारी हो॥ ७॥ जो मन-कर्म-वचनसे चरणोंमें प्रेम रखता है, हे कृपासिन्धु! क्या उसे त्याग करना चाहिये?॥ ८॥

पुरुषोत्तम रा० कु०—१ (क) श्रीरामचन्द्रजीने कहा था कि माता-पिता-गुरु-स्वामीकी आज्ञा सिर धरकर

* यथा—'पुत्रवत्पितृवद्रामो मातृवन्मम सर्वदा॥ श्यालवद्भ्रातृवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥ पुत्रीवत्प्रपौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्॥ या प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रामे सीतापतावेव निधिवन्निहिता मुने॥' (शिवसंहिता, हनुमान: वै०)

करना चाहिये—यह धर्म है। धर्मका फल कीर्ति, सुगति और भूति है, यथा—'*मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू। साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥*' (३०६। २। ४)। इसीसे लक्ष्मणजी कहते हैं कि जिनको कीर्ति, सुगति, भूति प्रिय हो उन्हें ही धर्म-नीतिका उपदेश करना चाहिये। पुनः कीर्ति आदि जिसे प्रिय हों' इसका अभिप्राय यह है कि जिसे फलकी चाह हो उसीको साधन प्रिय लगेगा। (ख) '*कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई*' अर्थात् ऐसे सेवकका त्याग न करना चाहिये, यथा—'*मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥*' आप कृपासिन्धु हैं, अतएव कृपा करके त्यागिये नहीं। [इस कथनमें भाव यह है कि '*मन क्रम बचन चरनरत*' के परित्यागका सामर्थ्य आपमें है ही नहीं। आप केवल '*राजनीति राखत जन त्राता।*' —प० प० प्र०]

नोट—वाल्मी० २। ३१। ५ '**न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे। ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥**' (अर्थात् आपके बिना देवलोकमें जाना वा देवता बनना तथा सम्पूर्ण लोकोंका ऐश्वर्य यह कुछ भी मैं नहीं चाहता) का सब भाव '*कीरति भूति सुगति*' में आ जाता है।

दो०—करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाए उर लाइ प्रभु जानि सनेह सभीत॥७२॥

अर्थ—करुणाके समुद्र प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने सुन्दर भाईके मीठे कोमल और बहुत नम्र वचन सुनकर और उन्हें स्नेहके कारण डरा हुआ जानकर हृदयसे लगाकर समझाया॥ ७२॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रा० कु०—'**करुनासिंधु**' का भाव—लक्ष्मणजीने कहा था कि आप कृपासिन्धु हैं मुझपर कृपा कीजिये। अतएव इस विशेषणसे जनाते हैं कि उन्होंने कृपा की। २—'*सुबंधु*'—विपत्तिमें साथ देनेको चलते हैं, अतएव 'सुबंधु' कहा, यथा—'*होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये।*' (३०६। ८) '*मृदु*' सुननेमें कोमल। '**बिनीत**' अर्थात् शिक्षित, जैसा वेदशास्त्रमें बोलनेकी आज्ञा है वैसा बोले। '*उर लाइ*' का भाव कि हमने तुम्हें त्याग नहीं दिया, तुम हमारे हृदयमें बसते हो। 'समुझाए' कि भय न करो, हम माता-पिताके खयालसे तुम्हें यहाँ रखते थे, कुछ हमारा प्रेम तुमपर कम नहीं है। अच्छा, अब चलो। '*जानि सनेह सभीत*' का भाव कि रामजीका व्रत है कि सभीतको अभय देते हैं; यथा—'*जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं॥*', '**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम**', अतएव समझाकर उन्होंने लक्ष्मणजीको अभय दिया। (मानसके लक्ष्मण और वाल्मीकीयके लक्ष्मणमें बड़ा भारी अन्तर है। अतः वहाँका समझाना यहाँ नहीं लिया जा सकता।)

माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥१॥
मुदित भए सुनि रघुबर बानी। भएउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी॥२॥

अर्थ—जाकर मातासे बिदा माँगो और हे भाई! जल्दी आओ, वनको चलो॥ १॥ वे रघुवर श्रीरामजीके वचन सुनकर आनन्दित हुए; बड़ा लाभ हुआ, बड़ी हानि दूर हुई॥ २॥

नोट—'*जाई*' से सूचित किया कि श्रीरामजी साथ नहीं गये। '*आवहु बेगि*' से जनाया कि हम तबतक यहीं रहेंगे, तुम्हारे आनेपर साथ चलेंगे। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१(क) '*आवहु बेगि चलहु बन भाई*' से सूचित करते हैं कि उनको निश्चय है कि श्रीसुमित्रा अम्बाजी लक्ष्मणजीको आज्ञा दे देंगी। '*बेगि*' का भाव कि विलम्ब करनेसे लोग समझेंगे कि घर छोड़ा नहीं जाता, अथवा धर्मकार्यमें विलम्ब होनेसे विघ्नका डर है। (ख) '*भएउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी*' इति। सेवा मिली यह बड़ा लाभ है, यथा—'*लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।*' (६। २६। ८) श्रीरामजीसे वियोग होना बड़ी हानि है, यथा—'*हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥*' (७। ११२। ९) '**भज सेवायां**' धातु है अर्थात् सेवा भजन है, घर रहनेसे सेवाकी हानि होती, सो न हुई। ['*लाभ बड़*' का भाव कि माता-पिताकी सेवा, प्रजा-पालन आदि लौकिक धर्म भी लाभ था,

पर इसकी अपेक्षा यह क्षुद्र लाभ था। राज्य-सुख थोड़ी हानि थी, वियोग बड़ी हानि थी। (रा० प्र०) सङ्ग बड़ा लाभ है। (पं०)]

रा० प्र०—गीतावलीमें कहा है कि *'तात बिदा माँगिये मातु सन बनिहै बात उपाइ न औरै'* मातासे बिदा माँगनेका यह भाव कि सुमित्राजी इनको प्रपत्तिमें और दृढ़ कर देंगी अर्थात् अपने मनसे इतने दृढ़ हैं, गुरु उपदेश हो जानेसे और भी बन जायगा। [मातासे बिदा माँगनेमें लोकमर्यादाकी रक्षा है। (पं०)]

श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद समाप्त हुआ

हरषित हृदय मातु पहिं आए। मनहुँ अंध फिरि लोचन पाए॥ ३॥
जाइ जननि पग नाएउ माथा। मनु रघुनंदन जानकि साथा॥ ४॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मण हृदयमें प्रसन्न हो माताके पास आये, मानो अंधेने फिरसे नेत्र पा लिया हो॥ ३॥ जाकर माताके चरणोंपर माथा नवाया। पर उनका मन श्रीरघुनन्दन (श्रीरामचन्द्रजी) और जानकीजीके साथ है॥ ४॥

टिप्पणी—१ पहले मुदित कहा, उसका अर्थ 'हर्षित' यहाँ स्पष्ट किया। *'अंध फिरि लोचन पाए'* अर्थात् श्रीराम-जानकीजी इनके दोनों नेत्र हैं, इन्हींसे सब कुछ देखते हैं। जब घरमें रहनेकी आज्ञा दी गयी तब मानो अन्धे हो गये थे, कुछ सूझ न पड़ा था। वन चलनेकी आज्ञा होना अन्धेसे फिर आँखवाले हो जाना है। नेत्र पानेसे सुखी हुए। **'लोचन'** कहनेका भाव कि *'लोचृ दीप्तौ'* अर्थात् दीप्तियुक्त नेत्र पाये, अन्धा नेत्र पानेसे प्रसन्न होता ही है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है। *'फिरि'* से जनाया कि पहले दोनों नेत्र थे, पीछे अन्धे हो गये। अबतक वियोग न हुआ था, सदा सङ्ग रहा था, यह पहले नेत्रोंका होना है, साथ छूटने लगा, यही अन्धा होना था।

नोट—१ श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि लक्ष्मणजी श्रीरामजीका वन-गमन सुनकर अन्धेके समान हो गये, उन्हें कुछ भी न सूझता था कि क्या करूँ? क्योंकि श्रीरामजी उनके नेत्र हैं। साथ चलनेकी आज्ञा मिली मानो नेत्र मिल गये, अब सूझने लगा कि मैं ऐसा करूँगा।

नोट—२ पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत टिप्पणी १ से मिलता है। वे लिखते हैं कि लक्ष्मणजी ऐसे हर्षित थे जैसे अन्धेको फिरसे आँख मिले। अर्थात् जो पहले देखता रहा हो, पीछे अन्धा हो गया हो, उसे आँख मिलनेसे जैसा आनन्द होता है वैसा ही आनन्द लक्ष्मणजीको था। जन्मान्धको यदि आँख मिल जाय तो वह बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है। इतना बड़ा संसार उसके सामने आ जाता है, उसे समझमें नहीं आता कि यह क्या है? कई महीनेकी शिक्षाके बाद उसे बन्द दरवाजा और खुले हुए दरवाजेका भेद मालूम पड़ता है, रङ्ग पहिचाननेमें महीनों लगते हैं। उसे आँख मिलनेसे आनन्द नहीं होता। आनन्द तो उसे होता है जो जन्मान्ध न रहा हो। बीचमें किसी कारणसे आँख जाती रही हो, अत: कवि *'फिरि लोचन पाए'* कहते हैं। लक्ष्मणजीको श्रीसीता-रामकी प्राप्ति थी ही, बीचमें वियोगकी आशङ्का आ पड़ी, उसके मिट जानेसे कहते है *'मनहु अंध फिरि लोचन पाए।'*

टिप्पणी—२ *'जाइ जननि'* इति। श्रीरामजीकी आज्ञा है कि *'माँगहु बिदा मातु सन जाई'*, अतएव यहाँ कहते हैं कि *'जाइ जननि पग.....।'* मन श्रीराम-जानकीजीके साथ है, केवल शरीर माताके यहाँ आया है, यह भी उनकी आज्ञासे, तात्पर्य कि जब वे माताके पास आये तब श्रीराम-जानकीजीसे क्षणभरका वियोग हुआ, इसीसे मन वहाँ रखा। क्षणभरका वियोग भी ये न सह सकते थे।

प० प० प्र०—१ *'मनु रघुनंदन जानकि साथा'* इति। इससे जनाया कि जो मन-तन-वचनसे श्रीराम-चरणमें अनुरक्त रहता है, उसका मन सदा श्रीसीतारामजीमें ही लगा रहता है और श्रीसीतारामजी उसे सब प्रकारसे आनन्द देते हैं।

२—अरण्यकाण्ड श्रीरामगीतामें जो भक्तिके साधन कहे गये, उनमेंसे *'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।'* (१६। ९) से लेकर दोहा १६ तकके सब लक्षण श्रीलक्ष्मणजीमें इस संवादमें पाये जाते हैं।

मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा	१	*मन क्रम बचन चरनरत*
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा।	२	*गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।*
सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥		*कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥*
		मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।
मम गुन गावत पुलक सरीरा।	३	*बिलख बदन कंप पुलक तन,*
गदगद गिरा नयन बह नीरा॥		*नयन सनीरा*
काम आदि मद दंभ न जाके	४	*देह गेह सब सन तृन तोरे*

वनमें साथ जानेकी आज्ञा मिल गयी, इसको लक्ष्मणजीने बड़ा लाभ माना। अयोध्याका ऐश्वर्य-भोग उनको हानिकारक लगा। इससे उनकी निर्लोभता सिद्ध हुई। श्रीरामजीके कहनेपर कि ***'रहहु करहु सब कर परितोषू'*** क्रोध न हुआ, किंतु प्रेमवश व्याकुल होकर उन्होंने दीनतापूर्वक श्रीरामजीके चरण पकड़ लिये। इससे क्रोध-मदादिका पूर्ण अभाव, विनम्रता और दास्यभाव प्रकट होता है। लक्ष्मणजीके समान त्यागी रघुवंशमें दूसरा नहीं है। *'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥'* (३२४। ८) यह वाक्य श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रमें जितना चरितार्थ हुआ है उतना अन्य किसीमें भी नहीं। इसीसे तो वे श्रीरामजीके दक्षिण भागमें पूज्य हो गये।

गोस्वामीजीके लक्ष्मणचरित्रके समान पूर्ण निर्दोष भक्त और बन्धुका चरित्र अन्यत्र नहीं मिलता है। यद्यपि श्रीरामजी उनको भ्रातृभावसे ही देखते हैं तथापि लक्ष्मणजी अपनेको श्रीरामचरण-सेवक ही मानते हैं।

पूँछे मातु मलिन मन देखी। लषन कही सब कथा बिसेषी॥ ५॥
गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥ ६॥

शब्दार्थ—**बिसेषी**=विस्तारसे। '**दव**'=वनकी आग। '**सहमि गई**'= डर गयी, घबड़ा गयीं। २९। ४ देखिये।

अर्थ—माताने लक्ष्मणजीको मन मारे (उदास) देखकर (कारण) पूछा। लक्ष्मणजीने सब कथा विस्तारसे कह दी॥ ५॥ कठोर वचन सुनकर वे भयभीत हो गयीं; जैसे चारों तरफ वनाग्नि देखकर हरिणी भयभीत हो जाती है॥ ६॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'मलिन मन देखी'* इति। प्रश्न—ऊपर कह आये हैं कि *'मुदित भए सुनि रघुबर बानी'* और *'हरषित हृदय मातु पहिं आए'* तो यहाँ *'मलिन मन'* कैसे कहा? उत्तर—मनमें श्रीरामजीके सङ्गका सुख है पर उनके वनवास होनेका दुःख तो है ही। यह दुःख उनके उन वचनोंसे प्रकट होता है जो उन्होंने सुमन्त्रजीसे पिताके विषयमें कहे, जिसका परिचय इन शब्दोंमें पूज्य कविने किया है—*'पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥ सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेसु कहिअ जनि जाई॥'* (९६। ४-५) और फिर इसी काण्डमें भरतजीका ससैन्य आगमन सुननेपर यह दुःख पूर्ण रूपसे उमड़ा हुआ देख पड़ता है—*'कहँ लगि सहिय रहिअ मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे॥······प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू·····'* (२२९। ८। २३०) वही *'मन मारे'* यहाँ *'मलिन मन'* से सूचित किया है। मन मलिन होनेसे मुखकी चेष्टा भी मलिन हो जाती है। इसी चेष्टाको यहाँ *'मन मलिन'* कहते हैं। (पुनः, *'मलिन मन देखी'* का भाव कि आज तो श्रीरामराज्याभिषेक है, अत्यन्त प्रसन्न होना चाहिये था सो न होकर उदास हैं, इसका क्या कारण? अतः पूछा।) *'बिसेषी'* अर्थात् विशेषरूपसे, विस्तारपूर्वक कह सुनायी जिसमें फिर उन्हें कुछ पूछना न पड़े।

टिप्पणी—२ रामवनवास *'कठोर बचन'* है। श्रीराम-जानकीजी वनको जायँगे, राजाकी मृत्यु होगी,

लक्ष्मण वन जायँगे और भरत राज्य न ग्रहण करेंगे—यही चारों ओरका डाढ़ा (दावाग्नि) है, यथा—*'सीय कि पिय सँग परिहरिहि लषन कि रहिहहिं धाम। राज कि भूँजब भरत पुर नृपु कि जिइहि बिनु राम॥'* (४९) मृगी चारों ओरकी अग्निको देखकर और अपनेको बीचमें घिरी हुई पाकर सहम जाती है कि अब तो बचना असम्भव है, जलते ही बनेगा, वैसे ही श्रीसुमित्राजीने अपने हृदयके नेत्रोंसे चारों ओरसे दुःख ही घिरा हुआ देखा जिससे छुटकारा नहीं। सभी इस बातको जानते-समझते हैं कि ऐसा ही होगा।

लखन लखेउ भा अनरथ आजू। एहि सनेह बस करब अकाजू॥ ७॥
माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**अनरथ**=(अनर्थ) बुरा, अकाज।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने देखा कि आज (अब) अनर्थ हुआ। यह स्नेहके वश होकर काम बिगाड़ देंगी॥ ७॥ डरके कारण मातासे विदा माँगते हुए सकुचाते हैं। सोचते हैं कि हे विधि! यह साथ जानेको कहेगी कि नहीं!॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'लखन लखेउ भा अनरथ आजू·····'* इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीने लखा कि माता हमपर प्रेम करके न जाने देंगी; पर ऐसा वस्तुतः हुआ नहीं, लक्ष्मणजी लख न पाये, उन्होंने यहाँ लखनेमें गलती की—यह क्यों ? इसका कारण प्रथम ही दे चुके हैं कि—*'मन रघुनंदन जानकि साथा।'* जब मन यहाँ है ही नहीं तो लखते कैसे? (ख) *'भा अनरथ आजू'* अर्थात् श्रीरामजीका और हमारा सब दिनसे साथ चला आता है, अबतक कभी वियोग नहीं हुआ था, वे आज वनको जाते हैं, यह आज्ञा न देगी तो आज प्रथम-प्रथम वियोग होगा। यही अनर्थ होगा। सुमित्राजीको शोक रामवनवाससे हुआ कि कैकेयीने तो सर्वनाश कर डाला, परंतु लक्ष्मणजीने समझा कि ये मेरे वन जानेके सम्बन्धसे व्याकुल हुई हैं—यह 'भ्रान्ति अलङ्कार' है।

टिप्पणी—२ *'सभय सकुचाहीं'*—भय और सङ्कोच दोनों हैं। यदि पूछनेपर यह आज्ञा न देगी तो श्रीरामजी साथ न ले जायँगे, यह भय है। और बिदा मागनेमें सङ्कोच है (कि न जाने हाँ करे कि नहीं) (पुनः, भाव कि पूछनेसे कदाचित् यह आज्ञा नहीं ही देगी और न पूछनेसे जब यह देखेगी कि मैं जानेपर तुला हूँ, अवश्य जाऊँगा तो बरबस आज्ञा देगी ही। अतः मातासे पूछते नहीं। वै०) *'बिधि'* से कहनेका भाव कि संयोग-वियोग सबके कर्त्ता विधि हैं, यथा—*'जो पै पियबियोग बिधि कीन्हा'* और *'यह सँजोग बिधि लिखा बिचारी।'* (३। १७। ८) यहाँ सन्देह अलङ्कार है।

दो०—समुझि सुमित्रा राम सिय रूप सुसीलु सुभाउ।
नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ॥ ७३॥

शब्दार्थ—दाँव=खेलमें प्रत्येक खेलाड़ीके खेलनेका समय जो एक-दूसरेके पीछे क्रमसे आता है। =चाल। दाँव देना=दाँव खेलना=चाल चलना, धोखा देना। यह मुहावरा है।

अर्थ—श्रीसुमित्राजी श्रीराम-सीताजीका रूप, सुन्दर शील और स्वभाव समझकर और उनपर राजाका प्रेम लख (देख) कर अपना सिर पीटने लगीं कि पापिनी कैकेयीने बुरा दाँव दिया। अर्थात् ऐसा दाँव राजाको दिया कि जिसमें अवश्य हार ही हो, उनका पाँसा या कौड़ी न पड़ सके॥ ७३॥

टिप्पणी—१ *'समुझि सुमित्रा रामसिय रूप सुसीलु सुभाउ'* इति। समझकर अर्थात् स्मरण करके। भाव यह है कि राजा श्रीरामजीके रूप, शील और स्वभावको याद करके प्राण दे देंगे, यथा—*'राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥'* (१४९। ६) पुनः, यह समझकर कि राजाका उनपर बहुत स्नेह है इससे वे जीवित न रहेंगे, अतएव माथा पीटा (कि हम सब विधवा हो जायँगी)। [सुमित्रा (=सुष्ठु मित्रा) हैं, अतः ऐसा समझा—(खर्रा)।]

टिप्पणी—२ *'पापिनि दीन्ह कुदाउ'* इति। अर्थात् धोखा दिया कि ऊपरसे पतिव्रता बनी रही, श्रीरामजीसे प्रेम करती रही, अन्तमें इनको वन दिया और पतिपर घात किया। इसीसे *'पापिनि'* कहा।

धीरजु धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदु बानी॥ १॥
तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ २॥

अर्थ—परन्तु कुसमय जानकर धैर्य धारण किया। सहज ही सुन्दर हृदयवाली स्वाभाविक ही हित चाहनेवाली, सुमित्राजी कोमल वाणी बोली॥ १॥ हे तात! वैदेही श्रीजानकीजी तुम्हारी माता हैं, राम तुम्हारे पिता हैं। सब प्रकारसे स्नेह करनेवाले हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'कुअवसर जानी'* अर्थात् यह समय विकल होनेका नहीं है किन्तु पुत्रको धर्मशिक्षा देनेका है। [पुनः, यह कि इस समय सिवाय धीरज धारण करनेके दूसरा कोई उपाय चल नहीं सकता। वा, हम ही अधीर होंगी तो इनको उपदेश कौन देगा। (रा० प्र०) पुनः पुत्रको साथ जाना है, यात्राके समय रोना अच्छा नहीं।]

टिप्पणी—२ *'सहज सुहृद'* का भाव कि—(क) जैसा सुन्दर हृदय है वैसी ही सुन्दर वाणी बोलीं। पुनः, (ख) जैसे सुहृद् मित्र परोपकार-हेतु उपदेश देते हैं वैसे ही इन्होंने लक्ष्मणजीको हितोपदेश किया। (पण्डितजी) पुनः, (ग) 'सहज ही सुन्दर हृदय है तो रघुनाथजीका गुण, प्रताप और प्रीति क्यों न आवे' (समुझें)—(रा० प्र०)। पुनः; (घ) इनका हृदय स्वाभाविक ही सुन्दर है कुछ सत्सङ्ग आदिसे ये सुहृद् नहीं हुई हैं।

टिप्पणी—३ मृदु वाणी बोलीं, क्योंकि उपदेश कोमल वाणीसे ही मनमें लगता है।

टिप्पणी—४ *'तात तुम्हारि मातु बैदेही।'* इति। भाव कि इन्हींको माता-पिता समझना, हमारी याद न करना, हममें तुम्हारा चित्त न लगा रहे। राम सब भाँतिसे स्नेही हैं अर्थात् वे माता-पिताके समान पालक और रक्षक हैं, गुरुके समान उपदेश देनेवाले हैं, स्वामी हैं, इन्हींकी सेवा करनी चाहिये, रामजी स्वामीकी तरह सेवकका हित करते हैं, आपत्तिमें भाई और सखाके समान सहायक हैं, इत्यादि सभी प्रकारसे तुम्हारे स्नेही हैं, गुरु-पिता-माता-बन्धु इत्यादि सब इन्हींको समझो,यथा—'**त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥**' (पाण्डवगीता) (वे लोक-परलोक दोनोंके रक्षक हैं। अतएव *'सब कर ममता ताग बटोरी'* इन्हींके चरणोंमें *'मनहिं बाँधु बरि डोरी'* ।—पण्डितजी) यहाँ तीसरी निदर्शना है।

नोट—वाल्मीकीय सर्ग ४० श्लोक ९ '**रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्। अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥**' अर्थात् श्रीरामजीको दशरथ, श्रीजानकीजीको मेरे स्थानमें और वनको अयोध्या समझकर तुम सुखपूर्वक जाओ। सीधा अर्थ यही है। पर, विनायकी टीकाकारने इसका भावीसूचक यह अर्थ किया है—'दशरथजीको तुम मरा हुआ समझो, मुझे पिताकी लड़की यानी विधवा समझो और अयोध्याको उजड़ा समझ अपने इच्छानुसार वनको जाओ—सारांश यह है कि रामके वियोगमें दशरथजी प्राण त्यागकर मुझे विधवाकर अयोध्याको वनतुल्य कर जावेंगे (यही बात मानो कैकेयीने की जो पहिले सुमित्राजी कह आयी हैं कि *'पापिनि दीन्ह कुदाउ'*)।

वाल्मीकीयके कथन और गोस्वामीजीके कथनमें भाव तो एक ही है, पर विचार कीजिये तो देख पड़ेगा कि गोस्वामीजीके वचनोंमें कैसा चमत्कार है, क्या उत्कृष्टता है? कैसे भावपूर्ण इनके शब्द दिख रहे हैं। देखिये सुमित्राजी लड़केको एकदम ऐसा कहने लगीं कि *'तात तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम·····'* यह क्यों? लक्ष्मणजी तो स्वयं ही ऐसा जानते-मानते आये हैं—*'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू॥', 'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी'* इत्यादि फिर ऐसे प्रिय पुत्रको एकदम ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य! सुमित्रा अम्बाजी परम भागवता हैं। श्रीसीतारामजीके स्वरूपको भली प्रकार जानती हैं—मदालसा देवीसे किसी भाँति कम नहीं हैं। उनको लक्ष्मणजीका श्रीसीतारामजीको छोड़कर अपने पास आना बहुत

बुरा लगा। उनको लक्ष्मणजीके इस आचरणसे बड़ा दुःख हुआ, वे इसे सहन न कर सकीं, सहसा उनके मुखसे आवेशमें उनके चित्तकी वृत्तिको प्रकट करनेवाले वचन ही एकबारगी निकल पड़े—*'तात तुम्हारि मातु बैदेही।'* अर्थात् शोक है कि मेरे उदरसे जन्म लेकर भी तुमने अबतक न जाना कि तुम्हारी माता 'वैदेही' हैं, मेरा तो देहका नाता है और वस्तुतः 'वैदेही' तेरी माँ हैं, मेरे पास तुम आज्ञा माँगने आये इससे स्पष्ट है कि तुमको अभी मोह है, तुम्हें आज्ञा भी लेनी थी तो उन्हींसे। इस बातकी पुष्टता गीतावलीसे होती है—

'जाहि चरन गहि आयसु जाच्यो, जननि कहति बहु भाँति निहोरे।
सिय रघुबर सेवा सुचि ह्वैहौ तौ जानिहौं सही सुत मोरे॥
कीजहु इहै बिचार निरन्तर राम समीप सुकृत नहिं थोरे।
तुलसी सुनि सिख चले चकित चित उड़्यो मानो बिहग बधिक भए भोरे॥' (२। ११)

माताके पास आज्ञा माँगने आये। माता जो उपदेश करती हैं, उसीको चरितार्थ भी करती हैं—अतः पहले अपना ही नाता तोड़ती हैं। इस प्रकार कि हमारे पास क्यों आये? मैं तुम्हारी माँ नहीं। अब सोचिये *'तुम्हारि मातु बैदेही'* पहले यह कहना उत्तम है कि **'रामं दशरथं विद्धि।'**

प० प० प्र०—१ (क) श्रीसुमित्राजीके सब वचन आध्यात्मिक अर्थसे पूर्ण हैं। लौकिक माता-पिता *'सब भाँति सनेही'* नहीं होते। उनमें भी कुछ-न-कुछ स्वार्थबुद्धि रहती है—*'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।'* (७। ४७। ४)। (ख) **'बैदेही'** का भाव कि उनको अपनी देहपर किञ्चित् भी प्रेम नहीं है, इसीसे वे स्वार्थरहित प्रेम कर सकती हैं और राम *'सहज आनंद निधान'* हैं अतः उनके पुत्रको कभी दुःखका अनुभव न होगा।

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥ ३॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥ ४॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥ ५॥

अर्थ—जहाँ श्रीरामजीका निवास हो वही अयोध्या है, जहाँ सूर्यका प्रकाश है वहीं दिन है॥ ३॥ यदि निश्चय ही श्रीसीतारामजी वन जा रहे हैं तो अयोध्यामें तुम्हारा कुछ काम नहीं है॥ ४॥ गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी इन सबकी सेवा प्राणकी तरह करनी चाहिये॥ ५॥

नोट—१ *'अवध तहाँ जहँ राम निवासू'* इति। ऐसा ही श्रीवसिष्ठजीने कैकेयीको फटकारते हुए कहा है—**'न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः। तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥'** (वाल्मी० २। ३७। २९) अर्थात् जहाँकि राजा रामचन्द्र न होंगे, वह राज्य न होगा, किंतु वह वन ही राज्य होगा जहाँ रामचन्द्रजी निवास करेंगे। माता सुमित्राजीके कथनका भाव यह है कि श्रीसीतारामजी वनको जाते हैं तो वन ही अयोध्या है अर्थात् तुम्हें अवधके समस्त सुख वनमें प्राप्त हैं—यहाँ दशरथ पिता वहाँ राम पिता, यहाँ मैं माता वहाँ सीता माता—जब वन अवध है और माता-पिता वहाँ साथ हैं तो फिर यहाँके माता-पिता और इस अवधकी याद कदापि न करना। यह आगे स्पष्ट दिखाया है कि लक्ष्मणजीने सचमुच ऐसा ही किया है, यथा—*'छिनु छिनु लखि सियरामपद जानि आपु पर नेहु। करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु॥'* १३९। देखिये ७३ (६-७)।

नोट—२ *'तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू'* इति। जहाँ प्रकाश है वहीं दिन है, जहाँ प्रकाश नहीं वहाँ रात है। अयोध्यामें श्रीरामजी नहीं हैं अतएव यहाँ रात है, यथा—*'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥'* (८३। ५) **'अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्।'** (वाल्मी० २। ४०। ९) यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है।

नोट—३ *'जौं पै सीय रामु बन जाहीं''''* इति। तात्पर्य कि जहाँ स्वामी रहे वहीं सेवकका काम

है। 'जौं पै' यह गहोरा देशकी बोली है। गुरु, पिता, माता, भाई, देवता, स्वामी इन सबकी सेवा बड़े आदरपूर्वक करनी चाहिये; यह *'प्राणकी नाईं'* का भाव है। प्राणोंकी रक्षाके लिये मनुष्य क्या यत्न नहीं करते, वैसे ही इनकी सेवा दिलोजानसे तन और प्राणसे करनी चाहिये। इस अर्धालीमें 'प्रथमनिदर्शना' है।

रामु प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबही के॥ ६॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं* राम के नातें॥ ७॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवनु लाहू॥ ८॥

शब्दार्थ—**जी**=जीव, प्राणी। **मानिअहिं**=माने जाते हैं, मानिये।

अर्थ—राम प्राणप्रिय हैं। जीवोंके जीवन हैं! और सबके स्वार्थ-रहित सखा हैं॥ ६॥ जहाँतक पूजनीय और परमप्रिय हैं सबको रामजीके नाते मानना चाहिये (कि इनके माननेसे रामजी प्रसन्न होंगे। अथवा, रामजी सबके प्राण और जीव हैं इस नातेसे सबको माने; जब प्राण और जीव नहीं रहते तब मृतक शरीरको कौन मानता है?)॥ ७॥ ऐसा हृदयमें जानकर उनके साथ वन जाओ और हे तात! संसारमें जीनेका लाभ उठाओ॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'राम प्रानप्रिय जीवन जी के।…'* इति। गुरु-पिता-माता-बन्धु आदि सब प्राणके सदृश हैं और राम प्राणसे अधिक हैं; अतः श्रीरामजीको सबसे अधिक मानकर उन्हींकी सेवा करनी चाहिये। इनके समान सेवा योग्य दूसरा नहीं है। जीवके जीवन ये ही हैं अतएव इनके सिवा दूसरा कोई पालक या रक्षक नहीं है। (रा० प्र०)

टिप्पणी—२ *'स्वारथरहित सखा सबही के'* इति। भाव यह कि सब कोई स्वार्थके लिये प्रीति करते हैं, यथा—*'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।'* (४। १२) पर श्रीरामचन्द्रजी स्वार्थरहित सबके सखा हैं। अर्थात् बिना किसी स्वार्थके सबका हित करते हैं। प्राणके प्राण हैं, जीवके जीव हैं, सबके सखा हैं, ऐसा वेदमें लिखा है, यथा—**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** (श्वे० उ० ४।६) श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ में लिखा है कि 'नारायण जो मनुष्योंके सखा हैं उनके हम शरण हैं—*'ब्रह्मजीव सम सहज सँघाती।'* (१।२०।४) देखिये। अन्नपूर्णोपनिषद्में भी लिखा है—**'द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यौ सह स्थितौ। तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः॥ केवलं साक्षिरूपेण विना भोगेन वर्तते।'** (रा० प्र०) इस कथनका भाव यह है कि माताने लक्ष्मणजीको ब्रह्मका उपदेश किया अर्थात् यह बताया कि श्रीरामजी साक्षात् ब्रह्म हैं। जैसे जबतक प्राण और जीव रहते हैं तबतक शरीरकी सेवा की जाती है, पर जब ये शरीरको छोड़ देते हैं तब मृतक शरीरकी सेवाका कुछ प्रयोजन नहीं रहता; वैसे ही जबतक रामजी हैं तबतक सबकी सेवा करे, जब राम नहीं तब सबकी सेवा कुछ नहीं।

पण्डितजी—प्राणोंके बिना देह मिट्टी, वैसे ही राम बिना प्राण मिट्टी, बिना जीवके प्राण व्यर्थ वैसे ही बिना रामके जीव निकाम (व्यर्थ)। सब परम प्रिय और पूजनीयको इस नाते मानना ठीक है पर उनका मानना साधनभूत है। सबके सिद्ध फल राम प्रत्यक्ष प्राप्त हैं। तब उनको ही सर्वोपरि मानना चाहिये—ऐसा जान लो और वनको जाओ।

टिप्पणी—३ *'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें।…'* इति। प्रथम प्रधान-प्रधान पूजनीय लोगोंको कहकर फिर कहा कि जहाँतक पूजनीय हैं सबको रामके नाते मानिये।

पण्डितजी—*'सब मानिअहिं राम के नातें'* का भाव यह है कि जहाँतक रामजीमें अपना नाता बना

* 'मानी सकल' पाठ पाण्डेयजी और रामगुलामजीकी प्रतिलिपि जो वंदन पाठकजीकी लिखी हुई है, उनमें है। काशीराज, भागवतदास, छोटेलाल (पाठकजीके शिष्य) की प्रतियोंमें 'सब मनिअहिं' है। पाण्डेयजी यह अर्थ कहते हैं—रामके नातेसे सब पूजनीय पूजे जाते हैं, तो सर्वोपरि भावसे उन्हीं रामजीको पूजना चाहिये।

रहे वहाँतक सबको मानना चाहिये; परंतु जब उनके कारण रामजीमें अपना नाता टूटता हो तब उनको न माने। प्रमाण, यथा—*'जाके प्रिय न राम बैदेही*''''''' और *'जरउ सो संपति सदन सुख*'''''।' अथवा, २—ये सब रामके नाते माने जाते हैं जब राम ही नहीं तब ये कौन हैं (जिनके साथ रहा जाय)।

नोट—*'सो जननी सो पिता सोइ भ्राता सो भामिनि सो सुत सो हितु मेरो। सोइ सगो सो सखा सोइ सेवक सो गुरु सो सुर साहिब चेरो॥ सो तुलसी प्रिय प्रान समान कहाँ लौं बनाइ कहउँ बहुतेरो। जो तजि देह को गेह को नेह सनेह सों राम को होत सबेरो॥'* (क० ७। ३५) *'राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगी सखा गुरु स्वामी सनेही। राम की सौंहैं भरोसो है रामको राम रँगी रुचि राचौं न केही॥ जीवत राम मुये पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियै जगमें तुलसी न त डोलत और मुए धरि देही॥'* (क० ३६)

'जाके प्रिय न राम बैदेही। तेहि छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही। तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषण बंधु भरत महतारी॥ हरिहित गुरु बलि पति ब्रजबनितन्हि भए मुद मंगलकारी। नाते नेह राम के मनियति, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं॥ अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।''''''' (वि० १७४) इन उद्धरणोंसे *'सब मानिअहिं राम के नाते'* का भाव स्पष्ट हो जाता है।

प० प० प्र०—*'रामु प्रान प्रिय जीवन जी के।*''' इति। कौसल्याजीके *'पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥'* (५६। ७) तथा श्रीविश्वामित्रजीके *'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।'* (१। २१६) से मिलान कीजिये। भाव यह है कि अन्तर्यामी रूपसे राम ही सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करते हैं। और प्राणोंके भी प्रेरक और प्रकाशक तथा जीवके प्रकाशक भी वे ही हैं। श्रीरामजी मूल हैं, माता-पिता सुहृद् बंधु सुर आदि सब इस मूलके आश्रित शाखा, टहनी, पल्लवादि हैं। मूलमें जल सींचनेसे वृक्षके सभी अङ्गोपाङ्ग हरित, पुष्पित, फलित होते हैं, वैसे ही श्रीरामजीकी सेवामें सभी पूज्योंकी पूजा और सेवाका अन्तर्भाव होता है। जबतक श्रीरामजी अन्तर्यामी रूपसे जीवके शरीरमें प्रेरणा प्रकाश देते रहते हैं तभीतक उस देहधारी जीवकी मान्यता है। जब वह प्रकाश मिलना बंद होता है तब वह शरीर अत्यन्त अपवित्र और अपूज्य होता है। इसीसे कहा—*'सब मानिअहिं राम के नाते।'*

टिप्पणी—४ *'अस जिय जानि'* अर्थात् ऐसा जानकर कि सब रामके नातेसे माने जाते हैं, जब राम नहीं तब ये कौन हैं; अथवा *'प्राण प्राण के जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥'* ऐसा रामजीका स्वरूप है यह जीमें जानके; अथवा, रामजी परब्रह्म परमात्मा हैं यह समझकर साथ जाओ अर्थात् भाईका भाव न मानना जैसा मैंने बताया वैसा मानना। [जीव जब यह जानकर कि राम ही सबके अन्तर्यामी और प्रेरक हैं उनका सङ्गी बन जाता है तभी वह मानव-जीवनका लाभ प्राप्त करता है और कृतकृत्य होता है। (प० प० प्र०)]

दो०—भूरि भाग भाजनु भयेहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौ तुम्हरे मन छाँड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ॥ ७४॥

अर्थ—मुझ समेत तुम बड़े भाग्यवान् हुए, मैं बलिहारी जाती हूँ कि जो छल छोड़कर तुम्हारे मनने रामजीके चरणोंमें ठिकाना (जगह) बनाया॥ ७४॥

टिप्पणी—श्रीरामचरणमें चित्त लगना बड़े भाग्यकी बात है; यथा—*'तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय। बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥'* (बरवै० ६३)। जो-जो श्रीरामजीके चरणोंमें लगे उनको बड़भागी कहा गया है। १। २११ छन्द १ देखिये। अतएव भूरि-भाग्यका पात्र कहा। (जो पुत्र श्रीरामचरणानुरागी हो जाता है वह अपनी माताको समस्त भाग्योंका भाजन बना देता है। यथा—*'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥'* (७। १२७) अत: कहा कि *'भूरि भाग भाजन भयेहु मोहि समेत॥'* (प० प० प्र०।) *'बलि जाउँ'* का भाव कि तुम भाग्यभाजन हुए, मुझे भाग्यवती

किया, अतएव तुम इस योग्य हो कि तुम्हारी बलि जाऊँ, यह तन तुम्हारे निछावर है। बड़ा काम करे तो भारी निछावर की जाती है; इसीसे तन न्योछावर करती हैं। यह कैसे जाना कि इनका मन रामचरणमें आसक्त है? उत्तर-माताके पूछनेपर लक्ष्मणजीने सब कथा कह सुनायी थी, उसीमें अपने वन साथ जानेका भी वृत्तान्त कह दिया था। '*छल छाँड़ि*=कामना या वासनारहित, निष्काम, निःस्वार्थ, यथा—'*स्वारथ छल फल चारि बिहाई।*' (३०१। ३) [पुनः, छल=कपट=माया और मायाका परिवार मोह-काम-क्रोधादि समस्त मनोविकार। क्योंकि प्रभुका वचन है कि '*निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।*' यही बात आगे कहती हैं—'*सकल प्रकार बिकार बिहाई*…।' (प० प० प्र०) बैजनाथजीका मत है कि 'प्रकृतिका अंश होनेसे मनका सहज ही चञ्चल स्वभाव है, वह इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहमें लवलीन रहता है, उनकी कामनाएँ पूर्ण करनेके लिये अनेक छल=विद्यामें प्रवीण होता है। तुम्हारा मन चञ्चलतारहित विषयोंसे विमुख होकर छल छोड़कर श्रीरामपदमें लगा है।'] पुनः भाव कि वनको अयोध्या जानकर तन तो वनमें बसे और मन निष्काम होकर रामपदमें बसे।

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥ १॥
न तरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी*॥ २॥

अर्थ—संसारमें वही स्त्री पुत्रवती है जिसका पुत्र रघुनाथजीका भक्त हो॥ १॥ नहीं तो बाँझ भली थी, रामविमुख पुत्रसे अपनी भलाई जानकर व्यर्थ ही वह (पशुकी तरह) ब्यायी॥ २॥

पुरुषोत्तम रामकु०—'*पुत्रवती जुबती जग सोई।*…' इति। पुत्रवती कहा, क्योंकि पुत्र वही है जो नरकसे पितृकी रक्षा करे, यथा—'**पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवः॥**'=(वायुपुराण) जो रघुपतिका भक्त होता है वह पितरोंकी रक्षा करता है। जो राम-विमुख होता है उससे सब कुलके पूर्व किये हुए भी सुकृतोंका नाश होता है। पिता नरकमें पड़ते हैं यह हितकी हानि है; अतएव ऐसा सुत पैदा करनेसे बिना सुतका होना भला है। महारामायणमें भी कहा—'**ये कल्पकोटि सततं जपहोमयोगैर्ध्यानैः समाधिभिरहोरत ब्रह्मज्ञानात्। ते देवि धन्यमनुजा हृदि बाह्यशुद्धा भक्तिस्तदा भवति तेष्वपि रामपादौ॥**'

नोट—'*बिआनी*' पद यहाँ 'बादि' के सङ्गसे कैसा उत्कृष्ट पड़ा है। पशु शूकर आदिके बच्चे देनेको बियाना कहा जाता है। जिसमें श्रीरामजीकी भक्ति नहीं वह पशुवत् ही है। जैसा गोस्वामीजीने कवितावलीमें कहा है—'*तिन्हतें खर सूकर स्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछुवै। तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ विषानन द्वै॥ जननी कत भार भुई दस मास भई किन बाँझ गई किन च्वै। जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ रहै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥*' (७। ४०)

जब मनुष्यकी जगह उसने पशु जना (पैदा किया) तो उसके लिये '*बिआनी*' ही कहना ठीक है।

तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥ ३॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥ ४॥

अर्थ—तुम्हारे ही भाग्यसे रामजी वनको जा रहे हैं। हे तात! (वन जानेका) और कोई कारण नहीं है॥ ३॥ समस्त पुण्योंका बड़ा फल यही है कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें स्वाभाविक स्नेह हो॥ ४॥

नोट—प्रथम कहा कि '*भूरि भाग भाजनु भयेहु मोहि समेत बलि जाउँ*' अर्थात् दोनोंका बड़भागी होना एक साथ कहा। अब दोनोंके भाग्य पृथक्-पृथक् कहती हैं—'*पुत्रवती जुबती जग सोई।*…' इस चौपाईमें अपना बड़ा भाग्य दिखाया और '*तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं।*' इस चौपाईमें लक्ष्मणजीका बड़ा भाग्य दिखाया।

* 'जानी' पाठ राजापुर, पं० रामगुलाम द्विवेदी, बंदन पाठक, पाँड़ेजी इत्यादिका है। रा० प्र० में 'हानी' पाठ है पर अर्थ 'जानी' पाठका किया गया है। भागवतदासजी एवं पं० रामकुमारजीने 'हानी' पाठ रखा है।

टिप्पणी—१ *'तुम्हरेहि भाग'* अर्थात् जबतक श्रीरामजी अयोध्यामें रहे तबतक सबका भाग्य रहा, सबको दर्शन होते रहे, सबको सेवा मिलती रही। वनमें तुम्हारा ही भाग्य है, सब सेवा तुम्हींको प्राप्त हुई। (यहाँ मुख्य कारण तो कैकेयीका वरदान है पर ये कहती हैं कि केवल तुम्हारा सौभाग्य है दूसरा कारण नहीं—'हेत्वापह्नुति' अलङ्कार है)।

नोट—१ ऐसा ही वाल्मीकीयमें पुरवासियोंने कहा है **'अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्। भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥ महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्। एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥'** (२। ४०। २५-२६) अर्थात् अहा, लक्ष्मण! तुम धन्य हो, तुम्हारे मनोरथ सिद्ध हुए जो तुम प्रियवादी देवसदृश भ्राताकी सेवा करोगे। तुम्हारी बुद्धि प्रशंसनीय है। तुम्हारे भाग्यका बड़ा भारी अभ्युदय हुआ जो तुम साथ जा रहे हो। यह तुम्हारे स्वर्गका अर्थात् सर्वाधिक सुखका मार्ग है।

नोट-२ दूसरा भाव *'तुम्हरेहि भाग'* का लोग यह कहते हैं कि—पापियोंका भार भूमिपर है—*'गिरि सर सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहिं गरुअ एक परद्रोही॥'* रावणादि भाररूप हैं। लक्ष्मणजी कोल, कूर्म, शेषादिके नियन्ता हैं—*'दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धीर'*......'—इन सबोंको आज्ञा देनेवाले हैं। नियम्यका भार नियन्तापर रहता है। रामजी भार उतारने जाते हैं, अतएव *'तुम्हरेहि भाग'* कहा। अथवा, कल्पान्तरमें शेष ही लक्ष्मण होते हैं और शेषपर भार है, उसे उतारने जाते हैं। राम तुम्हारे सिरका भार उतारने जाते हैं, यह तुम्हारा सौभाग्य है।

इसपर पण्डित रामकुमार, वन्दन पाठक और बैजनाथजी लिखते हैं कि—

१—यह अर्थ सरस्वतीकी उक्ति है पर माधुर्यके अनुकूल नहीं है।

२—यहाँ *'तुम्हरेहि'* यह उपलक्षण है अर्थात् भक्तोंके वास्ते वनमें जाते हैं। अथवा यहाँ बहुत सेवक हैं, वनमें राम तुम्हारे बाँटे (हिस्सेमें) पड़े हैं, अघाकर सेवा कर लो। प्रसङ्गसे यही अर्थ मुख्य है, यहाँ वात्सल्यरस है। शेषके भारवाले अर्थमें पूर्वापर प्रकरणसे विरोध होता है; क्योंकि शेषजीपर भार नहीं हो सकता—*'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।'* जब ब्रह्माण्डका बोझ तिनकामात्र है तब तो बोझकी शङ्का ही न रही। पुनः, जहाँ लक्ष्मणजीका अवतार कहा है और रामजीको अवतारी वहाँ प्रमाणमें *'दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला......होहु सजग सुनि आयसु मोरा'*, *'जो अवतरेउ भूमि भय टारन'* और *'सचराचरधनी'*—ऐसा कहा है और यहाँ तो प्रकरण ऐसा है—*'रघुपति भगत जासु सुत होई।'* *'सुत'* वात्सल्यरसको ही सूचित करता है। यहाँ यही रस प्रधान है। अन्य अर्थमें लक्ष्मणजीमें अनित्यता होती है। जो कहो कि नगर भरको इतना दुःख है, लक्ष्मणजीका भाग्य कैसे? इसका अभिप्राय यह है कि इनको वियोग-जनित दुःख न होगा—यह क्या कम भाग्य है?

३—शेषरूप माननेसे लक्ष्मणजीकी सेवा व्यर्थ हुई जाती है; क्योंकि जब स्वामी हमारा दुःख दूर करनेके लिये परिश्रम उठाते हैं तब हमारी सेवा कैसी? यहाँ आशय है कि सब त्यागकर तुम ही साथ जाते हो यह तुम्हारा अमल यश अचल रहेगा, अतः तुम ही भाग्यशाली ठहरे।

दीनजी=रामलक्ष्मणके अवतारकी खबर इनको मालूम थी इसलिये ये स्वयं ही उनको साथ जानेकी आज्ञा दे रही हैं। लक्ष्मणजीने अभीतक आज्ञा नहीं माँगी थी।

टिप्पणी—२ *'सकल सुकृत कर बड़ फल एहू।'*......', यथा—*'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥ नाना करम धरम ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ भूत-दया द्विज-गुरु-सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई। जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी॥'* (७। १२६) *'बड़ फल'* का भाव कि सुकृतसे स्वर्ग होता है। यह क्षुद्र फल है। क्योंकि पुण्यके क्षीण होनेपर स्वर्गसे फिर पृथ्वीपर ढकेल दिये जानेका भय वहाँ बना है। यथा—*'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।'* (७। ४४) **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।'** श्रीसीतारामचरणानुराग होना बड़ा फल है। गीतामें भी कहा है—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** पुनः, यथा—*'सकल सुकृत फल राम सनेहू।'*

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥५॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥६॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम सिय जासू॥७॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥८॥

अर्थ—राग, रोष, ईर्ष्या, मद (घमंड) और मोह, इनके वश स्वप्नमें भी न होना॥५॥ सब प्रकारसे विकारको छोड़कर मन-कर्म-वचनसे सेवा करना॥६॥ तुमको वनमें सब तरहसे सुख है कि जिसके सङ्ग पिता-माता श्रीरामसीताजी हैं (अर्थात् माता-पिता लड़केको हर तरहका आराम देते हैं, तुम्हें अपने आरामकी चिन्ता वहाँ नहीं करनी पड़ेगी। ध्वनि यह है कि तुम अपना सुपास न देखने या करने लगना)॥७॥ हे पुत्र! तुम वही करना जिससे श्रीरामजी वनमें क्लेश न पावें। यही मेरा उपदेश है॥८॥

नोट—१ राग (सांसारिक प्रेम), क्रोध, ईर्ष्या (डाह), मद और मोह ये सब सेवा (राम-भक्ति) के बाधक हैं; अतएव यह कहकर कि श्रीसीताराम-चरणमें अनुराग होना समस्त सुकृतोंका बड़ा फल है, यह बताया कि इसमें बहुत विघ्न डालनेवाले हैं जिनसे वह अनुराग जाता रहता है, यथा—*'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥'* (३।३८) वे ये हैं, इनसे बचे रहना। बाधकोंका निवारण करके तब सेवाका उपदेश करती हैं।

नोट—२ *'रागु रोषु इरिषा मदु मोहू।……'* इति। रागके वश न होनेका भाव कि श्रीसीतारामजीको छोड़ अन्य किसीमें प्रेम न करना, माता-पिता, भाई-पत्नी इत्यादि सबकी ओरसे प्रेमको हटाकर इनके ही चरणोंमें प्रेम रहे। अर्थात् और सबको मनसे भुला देना। रोषके वश न होनेका भाव कि ये जो आज्ञा दें वह यदि तुम्हारे मनके अनुकूल न भी हो तो भी कदापि रुष्ट न होना—देखिये माताके उपदेशपर श्रीलक्ष्मणजी कैसे दृढ़ रहे हैं। *'मरम बचन सीता जब बोला।'* (३।२८।५) और *'आएहु तात बचन मम पेली।'* (३।३०।२) इन वचनोंपर भी वे कुछ रुष्ट होकर न बोले—क्रोध आनेसे सेवा भङ्ग हो जायगी। ईर्ष्या यह कि किसी समय किसी भी कारणसे यह चित्तमें न आवे कि ये भी राजकुमार और हम भी राजकुमार, दोनों बराबर हैं, हम सेवा क्यों करें? जाति, विद्या, बल इत्यादिका गर्व न हो, यह विचार कदापि न आवे मेरे सिवा इनका कौन सेवक या रक्षक है। घरका मोह न करना। इनके स्वरूप और अपने स्वरूपको न भुला देना; यही मोह वश न होना है।

टिप्पणी—१ *'सकल प्रकार बिकार बिहाई।……'* इति। राग-रोषादि पाँच प्रकारके विकार कहकर अब कहती हैं कि और भी बहुत विकार हैं। सब प्रकारके विकारोंको छोड़कर सेवा करना, मन, कर्म, वचन तीनों शुद्ध रहें, इनमें सेवाके प्रति कोई विकार न उत्पन्न होने पावे। [*'मन क्रम बचन करेहु सेवकाई'*—मनकी सेवा यह है कि सेवाके समयका ध्यान बना रहे। बचनकी सेवा यह कि मनकी बात लखकर अनुकूल आज्ञा माँगना और करना, तथा सदा प्रिय मधुर कोमल प्रेममय वचन बोलना। कर्म अर्थात् प्रत्यक्ष सेवा कैंकर्य करना। (पाँ०)]

टिप्पणी—२ *'जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू।……'* इति। तात्पर्य यह कि श्रीरामजानकीजी तुम्हारा 'सुपास' करेंगे तुम उनका 'सुपास' करना। वे क्लेश न पावें, इसका भाव यह है कि बनमें बहुत क्लेश हैं, यथा—*'बिपिनि बिपति नहिं जाइ बखानी'*—उनको कोई क्लेश न हो। इस उपदेशमें पर्णकुटी, भोजन, पुष्प-शय्या, वनके जीवोंसे रक्षा इत्यादि सम्पूर्ण सेवाका उपदेश हो गया।

नोट—३ माता सुमित्राको कितना खयाल है कि श्रीरामजीको दुःख न हो, यह बात गीतावलीसे भलीभाँति स्पष्ट होती है, अपने पुत्र लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेका शोक उनको नहीं है वरन् राम अकेले हैं इसका शोक है, वे शत्रुघ्नजीसे कहती हैं कि तुम जाओ, सेवा करो—*'सुनि रन घायल लषन परे हैं। स्वामिकाज संग्राम सुभट सों लोहे ललकि लरे हैं॥ सुवन सोक संतोष सुमित्रहिं रघुपति भगति बरे हैं॥ छिन छिन गात सुखात छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं॥ कपि सों कहत सुभाय अंबके अंबक अंबु भरे हैं। रघुनंदन बिनु*

बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं॥ तात जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं। प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥ अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं॥ तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥' (गी० ६। १३)

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि श्रीमानसकी सुमित्राजीके समान माताका चरित्र अन्य किसी ग्रन्थमें तो क्या अन्य किसी देश या भाषामें मिलना असम्भव है। अथसे इतितक सुमित्राजीके हृदयको पुत्र-विरहका स्पर्श भी नहीं हुआ। उन्होंने अपने प्रियतम रामभक्त पुत्रको चौदह वर्षके वनवासके लिये जाते समय भी हृदयसे नहीं लगाया। धन्य-धन्य भक्तजननी और उसका '**वज्रादपि कठोरं च कोमलं कुसुमादपि**' अन्त:करण !! ऐसी माताका पुत्र लक्ष्मणजीके समान सर्व भक्त-लक्षण-सम्पन्न न होगा तो और किसका होगा?

छंद—उपदेसु यहु जेहि जात[१] तुम्हरें राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर[२] सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सियरघुबीर पद नित नित नई॥

शब्दार्थ—**अविरल**=अविच्छिन्न, भरपूर, निर्भर। **अमल**=शुद्ध, निर्विकार।

अर्थ—हे तात! हमारा तुमको यही उपदेश है कि जिसमें तुम्हारे साथ जानेसे श्रीरामजानकीजी सुख पावें और पिता, माता, प्रिय, परिवार तथा अवधपुरके सुखकी याद वनमें भुला दें (वही तुम करना)। तुलसीदासजी कहते हैं कि (सुमित्राजीने हमारे) प्रभु लक्ष्मणजीको शिक्षा देकर आज्ञा दी और फिर आशीर्वाद दिया कि श्रीसियरघुवीर-चरणमें नित्य-नित्य नया अविरल और विशुद्ध अनुराग हो।

टिप्पणी—१ दो बार उपदेश कहा, यथा—*'जेहिं न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥'* और *'उपदेसु यहु जेहि जात तुम्हरें राम सिय सुख पावहीं।'* दो बार कहनेका तात्पर्य यह कि एक बार तो क्लेश दूर करनेको कहा और दूसरेमें उनको सुख देनेका उपदेश किया और बताया कि कैसा सुख देना *'जेहि'''पितु मातु प्रिय परिवार सुख सुरति बन बिसरावहीं'* [☞सेव्यकी सेवा करनेकी विधि *'रागरोष इरिषा''''राम सिय सुख पावहीं'* इन पंक्तियोंमें सुचारु रूपसे बतायी है। यह सेवाका परमोच्च आदर्श है। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई'*—यहाँ शिक्षा, आज्ञा और आशीर्वाद तीनोंका विभाग किया। *'पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं'* यहाँ तक शिक्षा है। *'अस जिय जानि संग बन जाहू'* यह आज्ञा है और *'रति होउ अबिरल अमल सियरघुबीर पद नित नित नई'* यह आशीर्वाद है। प्रथम जो सिखावन दी थी कि *'सकल सुकृत कर फल सुत एहू। सीयराम पद सहज सनेहू॥'* उसीका यहाँ आशीर्वाद दिया कि श्रीसीतारामपदमें नित्य नवीन प्रेम हो।

सो०—मातु चरन सिरु नाइ चले तुरत संकित हृदय।
बागुर बिषम तोराइ मनहुँ भाग मृगु भाग बस॥ ७५॥

शब्दार्थ—**संकित**=शंका करते हुए, डरते हुए। बागुर=फंदा, जाल। तोराइ=तोड़कर, छुटाकर, तुड़ाकर।

अर्थ—(श्रीलक्ष्मणजी) माताके चरणोंमें माथा नवाकर मनमें डरते हुए तुरत चले—(डर इस बातका है कि कहीं हमारे माता-पिता, हमारे सर्वस्व श्रीसीतारामजी विलंब हो जानेके कारण चल न दिये हों, अतएव तुरत तेजीसे चले। जब श्रीजानकीनाथजीके पास पहुँच गये तब शङ्का दूर हुई और वे *'भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू।'*)—मानो सौभाग्यवश हिरन कठिन फंदा तुड़ाकर भाग निकला हो॥ ७५॥

---

१. 'जात' पाठ रा० प०, को० रा०, आदि अनेक प्रतियोंमें है। गी० प्रे०में 'तात' पाठ दिया है। मेरी समझमें 'जात' पाठ उत्तम है। गी० प्रे० ने 'तात तुम्हरे' का अर्थ 'हे तात! तुम्हारे कारण' लिखा है। २. लाला सीतारामजीकी छपाई राजापुरकी पोथीमें 'पुर' नहीं है।

टिप्पणी—१ लक्ष्मणजी मातासे विदा होने आये हैं, माताने उनके इच्छानुकूल आज्ञा दी, दूसरे माताने सेवा-भक्तिका उपदेश दिया और आशीर्वाद भी; अतएव मस्तक नवाकर चले।

टिप्पणी—२ माताकी आज्ञा *'बिषम बागुर'* है, बिना आज्ञाके साथ नहीं जा सकते। माताकी आज्ञा होना *'बिषम बागुर'* का टूटना है। यथा—*'तात बिदा माँगिये मातु सों बनिहै बात उपाइ न औरे।'* (गी० २।११) फंदा कठिन है, तोड़नेसे नहीं टूट सकता था; इसीसे कहा कि बड़े भाग्यसे टूट गया। *'बागुर'* विषम वैसे ही माताकी आज्ञा भारी। भाग्यवश आज्ञा मिल गयी, कठिन जालसे छुटकारा मिल गया; इसीसे जल्दीसे भाग चले।

नोट—*'संकित हृदय'* के भाव ये कहे जाते हैं—(१) शंका कि कहीं कोई और विघ्न उपस्थित न हो जाता। जैसे हिरन भागे कि फिर फाँस न लिया जावे वैसे ही ये डरते हुए जल्द चल दिये कि फिर दूसरे प्रकारकी आज्ञा न दे दे। (पु० रा० कु०) (२) शंका कि कहीं माता साथ चलनेका हठ न करे। (दीनजी) (३) शंका कि उर्मिलाजी न आ जायँ, सीताजीकी तरह वे हमारे साथ चलनेका हठ कहीं करें तो कठिन हो। (शीलावृत) (४) और कोई माताएँ न विघ्न डालने आ जायँ। (पां०) (मेरी समझमें जो भाव है वह अर्थमें कोष्ठकमें दिया गया है।) (५) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत शीलावृत्तके अनुसार है। वे लिखते हैं कि लक्ष्मणजी माताको प्रणाम करके तुरन्त चल पड़े, क्योंकि सरकारकी आज्ञा थी *'आवहु बेगि'* । शङ्कित हृदय इसलिये कि कहीं सीताजीकी भाँति भगवती उर्मिला न आ पड़ें, तब तो एक दूसरा ही प्रपञ्च खड़ा हो जायगा। इसीलिये कवि कहते हैं कि विषम जाल तुड़ाकर जैसे मृग भाग्यवश भाग निकले। माता विषम बागुर नहीं है, विषम बागुर तो स्त्री होती है।

वि० त्रि०—वाल्मीकीय, अध्यात्म और रामचरितमानसमें सीताजीकी भाँति उर्मिलाजीका साथ जानेका आग्रह इसलिये नहीं दिखाया कि उन्होंने आग्रह किया ही नहीं। क्योंकि लक्ष्मणजीको वनवास दिया नहीं गया। वे अपनी खुशीसे सेवक धर्मपालनके लिये गये। उनके धर्मपालनमें बाधा न पहुँचे; इसलिये उर्मिलाजीने उफ तक नहीं की। यहाँ उर्मिलाका मौन रहना दिखलाकर, उनके गुणोंका बड़ा भारी उत्कर्ष दिखलाया। उर्मिलाके साथ अन्याय नहीं किया।

'श्रीलक्ष्मण-सुमित्रा-संवाद'

(मानस-हंससे उद्धृत)

'कविकला और लोक-शिक्षाकी दृष्टिसे यह संवाद रामायणके सभी संवादोंका तिलक है। तुलनात्मक दृष्टिसे इस संवादका और राम-कौसल्या-संवादका विचार करनेपर कौसल्या देवीकी अपेक्षा भी सुमित्रा देवी रामप्रेमके विषयमें अधिक जाज्वल्य नजर आती हैं।* सुमित्रा-देवीने लक्ष्मणविषयक पुत्र-प्रेमको हृदयसे नितान्त निकालकर अपना पूरा-पूरा हृदय रामचरणोंमें निविष्ट कर दिया। हमारे मतसे सारी रामायणमें इतने प्रखर राम-प्रेमका स्त्रीपात्र और दूसरा नहीं है। कहना पड़ता है कि स्त्री-शिक्षा-विषयक अपने सब तत्त्व स्वामीजीने सुमित्रा देवीके चरणोंमें समर्पित किये हैं।'

इस संवादका सौन्दर्य इतना अधिक है कि उसका यहाँपर दर्शाया जाना असम्भव है। अतएव यहाँपर उसके विचारकी केवल रूपरेखा ही दिखलायी जावेगी।

वाल्मीकि रामायणमें **'रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्'** कहा गया है। परन्तु कविने वह क्रम बदलकर यहाँ *'तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम'* रख दिया है। हमारा मत है कि यही इस संवादकी कुञ्जी है।

लक्ष्मणजीको *'माँगहु बिदा मातु सन जाई'* ऐसी रामाज्ञा थी। तदनुसार लक्ष्मणजीने आकर सुमित्रादेवीको *'कही सब कथा बिसेषी।'* सब हाल सुन लेनेपर सुमित्रा देवीको आदिसे अन्ततक लक्ष्मणजीकी जो घोर

* प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि कौसल्याजीकी रामभक्ति और सुमित्राजीकी रामचरणरतिकी तुलना अनुचित है। कारण कि एक जीवकी माता है और दूसरी ब्रह्मकी जननी है।

गलतियाँ नजर आयीं वे ऐसी हैं:—(१) लक्ष्मणजीने यही नहीं समझा कि उनकी माता कौन थी। (२) रामजीको वैसे ही छोड़कर सुमित्रादेवीकी भेंटके लिये आना लक्ष्मणजीको अनुचित था। (३) लक्ष्मणजीको परमार्थ तत्त्वका अज्ञान था।

पहिली गलतीके कारण सुमित्राजीको खेद हुआ; दूसरीके कारण उनको क्रोध आया, और इन मनोविकारोंके झटपटमें वे आवेशसे एकदम इस प्रकार बोल उठीं—*'तात तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ अवध तहाँ जहँ राम निवासू।'.....अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥'*

परन्तु उसी क्षण उन्हें लक्ष्मणजीके अज्ञानपर दया आयी और उन्होंने शुद्ध उपासनाके मूल तत्त्वका लक्ष्मणजीको इस प्रकार उपदेश किया—*'गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं'* से *'लेहु तात जग जीवन लाहू'* तक।

इसके पश्चात् उन्होंने लक्ष्मणजीको बड़े प्यारसे अपनाकर मनाया और रामजीकी सेवाके विषयमें उपदेश दिया जिसका सार यह है:—*'पुत्रवती जुबती जग सोई'* से *'सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू।'*

स्वामीजीकी सुमित्रा देवीमें विशेषतासे देखनेयोग्य बात यह है कि एक क्षण भरके लिये भी पुत्रप्रेमकी छायातकका स्पर्श उन्होंने अपने चित्तको न होने दिया। इसी कारण बिदा होते समय लक्ष्मणजीको उन्होंने अपने हृदयसे लगाया तक नहीं।

माताका वह उत्तेजित उपदेश सुनकर (और माताके उपकार जानकर) लक्ष्मणजी सुमित्रा देवीके चरणोंपर गिरे और वैसे ही वे *'चले तुरत संकित हृदय।'* ऐसा क्यों? उन्हें यही शंका हुई होगी कि माता सुमित्राके सन्निधिमें अधिक समय व्यतीत हो जानेके कारण कदाचित् रामचन्द्रजी निकल गये होंगे और यदि ऐसा हुआ तो उनके पक्षमें वह बड़ा ही हानिकारक होगा। क्योंकि इधर माता सुमित्रा देवी पुनश्च अधिक दुश्चित्त हो जायँगी, और उधर श्रीसीतारामजीके मनमें कदाचित् कुछ शंका हो जायगी।

'धन्य माता, और धन्य पुत्र! दोनों सच्चे शूरवीर!'—गोसाईंजीकी सुमित्रा देवीके सम्मुख वाल्मीकि और अध्यात्मकी सुमित्रा देवी कुछ फीकी-सी दिखायी देती हैं। इसका कारण यह कि इनके चरित्रके चित्रणमें कुछ अजब ही मसाला स्वामीजीने मिलाया है। वह मसाला तत्त्वज्ञानके लिये मूलभूत प्रेम प्रचुर रामोपासना है। उसकी प्रतीति उनके सम्पूर्ण उपदेशसे हो रही है।

इस सुमित्रादेवीको देखकर हमारी कल्पना यही होती है कि लक्ष्मणजीके समान तेजस्वी, विरक्त और श्रीरामभक्त पुत्रके अनुरूप ही उनको माता चाहिये थी। इसी कारण स्वामीजीने सुमित्रा देवीको लक्ष्मणजीमें भी कुछ अंशोंसे अधिक तेजस्वी, विरक्त और रामभक्त चित्रित किया है। उत्तरकाण्डमें इस पात्रकी सुसङ्गति देखनेमें आयेगी। *'भेंटी तनय सुमित्रा रामचरनरत जानि।'*

गये लषनु जहँ जानकिनाथू। भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू॥ १॥
बंदि रामसिय चरन सुहाए। चले संग नृप मंदिर आए॥ २॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी वहाँ गये जहाँ श्रीजानकीजी और उनके साथ श्रीरघुनाथजी थे, प्यारा साथ पाकर मनमें प्रसन्न हुए॥ १॥ श्रीरामजानकीजीके सुहावने सुन्दर चरणोंकी वन्दना करके वे साथ चले और राजमन्दिरमें आये॥ २॥

नोट—१ *'गये लषनु जहँ जानकिनाथू'* इति। श्रीरामचन्द्रजी कौसल्याजीके महलसे निकले, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजी समाचार सुनकर उनके पास पहुँच गये थे। जब सुमित्राजीके पास लक्ष्मणजी बिदा माँगने गये और बिदा होकर लौटे तबतक श्रीसीतारामजी महलसे कुछ दूर निकल आये, पर कहाँ हैं इस स्थानको नियत नहीं किया। इससे सूचित करते हैं कि वे न तो कौसल्याजीके स्थानमें हैं न गुरुके, न राजमन्दिरमें हैं और न अपने महलमें। अर्थात् किसी प्रधान स्थान-विशेषमें नहीं हैं जिनका नाम दिया जाता। अतएव कहते हैं कि *'जहँ जानकिनाथू।'*

नोट—२ *'जहँ जानकिनाथू।'* जहाँ श्रीजानकीजीसहित श्रीरघुनाथजी हैं। लक्ष्मणजीका स्नेह श्रीरामजानकीजीमें बराबर-बराबर है, यदि कहते कि जहाँ रामजी हैं वहाँ आये तो केवल रामजीहीमें स्नेह पाया

जाता। अतएव '**जानकिनाथू**' पद देकर दोनोंको सूचित कर दिया—जानकीजी और उनके पति। पुनः भाव कि श्रीराम-जानकी दोनोंका सदा संग है, दोनों अपृथक् हैं, अतएव ग्रन्थकारने दोनोंको ऐसे शब्दमें एक साथ कहा। (पु० रा० कु०)

नोट—३ ***'भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू'*** इति। श्रीरामजीने आज्ञा दी थी कि मातासे बिदा माँगकर वन चलो, तब मुदित हुए थे, यथा—***'भये मुदित सुनि रघुबर बानी।'*** माताके पास विदा होनेकी आज्ञा लेने गये तब मनमें संदेह हुआ कि न जाने आज्ञा दे या न दे, यथा—***'माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं॥'*** परंतु जब माताकी आज्ञा हो गयी तब पुनः मन प्रसन्न हो गया। यहाँ ***'पाइ'*** पद दिया। यह भी साभिप्राय है। माताकी आज्ञासे ही साथ हो पाया नहीं तो साथ जानेको न मिलता, साथ न पाते। ***'प्रिय साथू'*** का भाव कि औरोंका साथ अप्रिय है, श्रीसीतारामजीका ही साथ इनको प्रिय है।

नोट—४ ***'बंदि रामसिय चरन सुहाए। चले संग……'*** इति। (क) श्रीसीतारामजीके चरणारविन्दकी वन्दनाका यहाँ क्या प्रयोजन, साथ तो थे ही? उत्तर—(१) पहले इनका वहाँ पहुँचना कहा, पहुँचनेपर प्रणाम करना आवश्यक था सो कहा; साथ होते ही तीनों वहाँसे चल दिये। (२) यह लक्ष्मणजीकी वन-यात्राका मङ्गलाचरण है, इन्हें अब किसीसे बिदा नहीं होना है, श्रीरामजीको अभी पितासे बिदा होना है पर ये तो श्रीरामजानकीजीहीको अपना सर्वस्व मानते-जानते हैं और माताका भी यही उपदेश है। अतएव वनमें मङ्गल हो, साथ न छूटे, इसलिये आदिमें प्रस्थान करते ही वन्दना की। अथवा, (३) चरणवन्दनसे ही सूचित कर दिया कि मातासे आज्ञा ले आया हूँ, बस तभी रामजी इनको साथ लेकर चल दिये। (ख) ***'चले'*** से यह ध्वनित होता है कि अबतक लक्ष्मणजीकी राह वे देखते रहे थे, वे आ गये तब चले। (ग) ***'बंदि चरन'*** में माताका आशीर्वाद—***'रति होउ अबिरल अमल सिय-रघुबीर-पद नित नित नई'***—चरितार्थ है। श्रीसीतारामचरणकी वन्दना करना यही उनके चरणोंमें प्रीति होना है।

मानसहंस—'श्रीसीता देवी और लक्ष्मणजी'—स्वामीजी इन दोनोंको पहले ही कक्षामें लिखते हैं। राम-विषयक प्रेमके सम्बन्धमें ये दोनों पात्र बिलकुल कंधा-से-कंधा भिड़ाकर चलनेयोग्य हैं। उधर सीताजीको ***'बचन बियोग न सकी सँभारी'*** अर्थात् पति वियोग इतना शब्द भी असह्य होता है, तो इधर लक्ष्मणजी ***'देह गेह सब सन तृन तोरे'*** घर-द्वार इत्यादिपर तुलसीपत्र धर देते हैं। सारांश यह कि ये दोनों पात्र श्रीरामजीपर अपने प्राण तक निछावर कर डालते हैं।……। इनके प्रेमको हठीला प्रेम अथवा 'कातर प्रेम' भले ही कहें पर इतनी बात जरूर है कि इन दोनोंमेंसे किसीके भी रामप्रेमको और कोई कभी किसी प्रकार नाम रखे तो उसे स्वयं ही बदनाम होना पड़ेगा।

वास्तवमें श्रीसीतादेवी और लक्ष्मणका रामजीके साथ जो सेव्य-सेवक भावका सम्बन्ध दीख रहा है वह तत्त्वतः अङ्गाङ्गी भाव है और उसे स्वामीजीने इस प्रकार दर्शाया है—

श्रीसीतादेवी	श्रीलक्ष्मणजी
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।	***रघुपति कीरति बिमल पताका।***
कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाई॥	***दंड समान भयेउ जस जाका॥***

इस दृष्टिसे न तो सीतादेवी और न लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे पृथक्तया देखे जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे दोनों भी रामजीमें समाविष्ट हैं। अर्थात् यही हुआ कि भक्तिकी भावनासे उन्हें इसी प्रकार देखना अधिक श्रेयस्कर है।

तो फिर इनके प्रेमका रामजीद्वारा वर्गीकरण क्यों करवाया? (***'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना', 'जानि सनेह सभीत'***) इस प्रश्नको कोई भी सहजमें सुलझा सकेगा। स्वामीजीका ध्येय यदि लोक-शिक्षा है तो उन्हें हर एक प्रश्नके सम्बन्धमें पृथक् और स्वतन्त्र विचार करना कर्तव्यताकी दृष्टिसे आवश्यक है। हमारी समझसे यदि वे इस प्रकार विचार न करते, तो उन्हें लोक-दृष्टिसे एक तो साम्प्रदायिक कहलवाना पड़ता अथवा कर्तव्य-विमुखता धारण करनी पड़ती।

कहहिं परसपर पुर नर नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी॥ ३॥
तन कृस मन दुखु बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने॥ ४॥

अर्थ—नगरके स्त्री-पुरुष आपसमें एक-दूसरेसे कहते हैं कि विधाताने अच्छी तरह बात बनाकर बिगाड़ दी॥ ३॥ उनके शरीर दुबले, मन दुःखी और मुख उदास हैं। वे ऐसे व्याकुल हैं मानो शहदकी मक्खी शहद निकाल (छीन) लिये जानेसे व्याकुल है॥ ४॥

नोट—१ जब श्रीरामचन्द्रजी कैकेयीके महलसे यह कहकर कि *'बिदा मातु सन आवौं माँगी। चलिहौं बनहिं बहुरि पग लागी।'* (४६। ४) माताके महलको चले तब वनका समाचार सुन सब पुर-नर-नारी दुःखी हो गये। *'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।'* (४६। ५) से पुरवासियोंका दुःख और विलापका प्रसङ्ग *'एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी।'''बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी।'''अति बिषाद बस लोग लोगाई।'* (५१। ७) पर छोड़ा था अब वहींसे फिर प्रसङ्ग उठाते हैं।

नोट—२ 'भलि बनाइ बिधि बात बिगारी' इति। (क) राज्याभिषेककी तैयारी हो चुकनेपर वनवास दिया यही अच्छी तरह बनाकर बातका बिगाड़ना है। पुनः, दूसरा अर्थ यह है कि खूब बनाकर बिगाड़ा अर्थात् इससे अधिक बिगाड़ना और क्या हो सकता है कि जिसका सुधार ही न हो सका। (ख) *'बिधि बिगारी'* कहकर विधाताका अविवेकी होना सूचित किया, यथा—*'जो सृजि पालइ हरहि बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति मोरी॥'* (२८२। २)

नोट—३ यहाँ दिखाते हैं कि पुरवासी तन-मन-वचनसे दुःखी हैं। *'तन कृस मन दुख बदन मलीने।'* और *'बिकल'* यह तन और मनसे और *'कहहिं परसपर पुर नर नारी'* यह वचनसे दुःखी दिखाया। (पु० रा० कु०)

नोट—४ मधुमक्खीके शहदका छीनना कैकेयी-मन्थरा संवादमें प्रथम ही कह आये हैं, यथा—*'देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती॥'* (१३। ४) मन्थरा और कैकेयी दोनों किरातिनियोंने मिलकर मधु छीन लिया। पुरवासी मक्खी हैं। राज्याभिषेक मधु है। जब सेकर तैयार किया तब किरातिनीने छीन लिया। (पण्डितजी) बैजनाथजी 'रामसंयोग' को मधु मानते हैं।

प० प० प्र०—*'बिकल मनहुँ माखी मधु छीने'* इति। मधुमक्खियाँ कितने ही दिनोंतक धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा संग्रह करती रहती हैं और स्वयं उस मधुका भोग भी नहीं करतीं। इसी तरह सभी पुरवासी रामराज्याभिषेकरूपी मधुका मनोरथ बढ़ाते रहे। अकस्मात् वह छीन लिया गया। तब मधुमक्खीके समान वे लोग छीननेवालोंपर क्रुद्ध, क्षुब्ध होकर काटना चाहते हैं। पर जब किरातिनी मधु छीन लेती है तब ऐसा उपाय कर लेती है कि मक्खी काट न सके। इसीसे मन्थरा और कैकेयी दोनोंको पहले ही किरातिनी बनाया गया।

कर मीजहिं सिरु धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥ ५॥
भइ बड़ि भीर भूप दरबारा। बरनि न जाइ बिषादु अपारा॥ ६॥

अर्थ—हाथ मलते हैं, सिर धुनकर पछताते हैं, मानो बिना पंखके पक्षी व्याकुल हो रहे हैं॥ ५॥ राजाके द्वारपर बड़ी भीड़ हो गयी है। विषाद अपार है। वर्णन नहीं करते बनता॥ ६॥

टिप्पणी—१ जब कुछ किया नहीं होता, वश नहीं चलता तब लोग हाथ मलते हैं। *'जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं'* इति। श्रीरामजानकीजी दोनों पक्ष हैं। दोनों वनको जाते हैं, यहाँ नहीं रहते, इसके बिना पुरवासी व्याकुल हैं।

टिप्पणी—२ 'मधुमक्खी' की उत्प्रेक्षासे सूचित किया कि जैसे मधुके आश्रयसे मक्खी जीती है वैसे ही श्रीरामजानकीके आश्रयसे पुरवासी जीते हैं। और 'बिनु पंखके बिहंग' की उत्प्रेक्षासे जनाया कि जैसे पक्षीकी गति पंख है वैसे ही पुरवासियोंकी गति श्रीराम-जानकी हैं। पंजाबीजी कहते हैं कि *'माखी मधु*

छीने' के दृष्टान्तसे दिखाया कि एक ही हानिसे अनेकको दुःख हुआ, रामजीके जानेसे नगरभर दुःखी हो गया। और, विहंगके दृष्टान्तसे दिखाया कि राम-लक्ष्मण दोनों जाते हैं—सीताराम तो एक ही हैं जैसे चन्द-चाँदनी, जल-बीचि इत्यादि। छत्ता तैयार होनेपर मधु निकाला जाता है, यहाँ राज्याभिषेककी तैयारी हो गयी थी तब राज्य छीन वन दिया गया—(खर्रा)। राजद्वारपर बड़ी भारी भीड़ है, सभी पुरवासी वहाँ आये हैं। *'बरनि न जाइ'* दीप-देहली है—भीड़ अपार है, वर्णन नहीं की जा सकती और विषाद अपार है वह भी वर्णन नहीं हो सकता।

सचिव उठाइ राउ बैठारे। कहि प्रिय बचन रामु पगु धारे॥ ७॥
सिय समेत दोउ तनय निहारी। ब्याकुल भएउ भूमिपति भारी॥ ८॥

अर्थ—'श्रीरामजी आये हैं' ये प्रिय वचन कहकर मन्त्रीने राजाको उठाकर बिठाया॥ ७॥ सीतासहित दोनों बेटोंको देखकर राजा बहुत व्याकुल हुए॥ ८॥

नोट—१ *'चले संग नृप मंदिर आए'* वहाँसे अब प्रसङ्ग मिलाते हैं। तीनों चलकर जब राजमन्दिरमें आये तब मन्त्रीने श्रीरामजीका आगमन कहकर राजाको उठाकर बिठाया। आगमन कहकर बिठानेका भाव कि जिसमें राजा धीरज धारण करके बैठें। रामजीका आगमन राजाको प्रिय है, इसीसे वचनके लिये 'प्रिय' विशेषण दिया।

नोट—२ *'सिय समेत दोउ तनय निहारी।''''''भारी'* इति। 'भारी' का भाव यह है कि रामजीके वनगमनके कारण व्याकुल तो थे ही अब देखा कि श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी भी साथ जा रहे हैं—वरदान तो केवल रामके वनका माँगा था और जाते दो और हैं—अतएव अब व्याकुलता बहुत बढ़ गयी।

'भूमिपति' का भाव कि पृथ्वी बड़ी धीर है, उसके ये पति हैं, अतः बड़े धैर्यवान् हैं पर क्या करें? (वा, भूमि=अन्न धान्यादिको उत्पन्न करनेवाली। इसके पति अर्थात पालक वा स्वामी हैं। तथापि उनके प्रियतम पुत्र और पुत्रवधू अब बिना अन्नके ही रहेंगे, यह विचार मनमें आनेसे भारी व्याकुल हो गये। *'कपट भू भट अंकुरे'* में भू (भूमि) शब्दका प्रयोग देखिये। (प० प० प्र०) अथवा, सारी पृथ्वीके चक्रवर्ती राजा होकर भी हमारे पुत्र वनमें वल्कलवस्त्र और कन्दमूल-फलपर रहकर ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदिका कष्ट सहें और हमारा कुछ वश न चले यह सोचकर अत्यन्त व्याकुल हुए] दुःख अपार है, इससे धीरज नहीं रहा, व्याकुल हो गये।

दो०—सीयसहित सुत सुभग दोउ देखि देखि अकुलाइ।
बारहिं बार सनेहबस राउ लेइ उर लाइ॥ ७६॥

अर्थ—श्रीसीतासहित दोनों सुन्दर पुत्रोंको देख-देखकर राजा व्याकुल हो उठते हैं और स्नेहके कारण बारंबार उन्हें हृदयसे लगा लेते हैं॥ ७६॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—जो बात पिछली चौपाईमें कही वही दोहेमें कहते हैं। यह पुनरुक्ति है? उत्तर—प्रथम तीनोंको देखकर व्याकुल हुए अब तीनोंको पृथक्-पृथक् देख-देखकर अकुलाते हैं; यह भेद है। अतः पुनरुक्ति नहीं है। व्याकुलताके कारण बोल नहीं सकते, इसीसे बारंबार हृदयसे लगाते हैं।

सकइ न बोलि बिकल नरनाहू। सोक जनित उर दारुन दाहू॥ १॥
नाइ सीसु पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब माँगा॥ २॥

अर्थ—राजा व्याकुल हैं, बोल नहीं सकते, उनके हृदयमें शोकसे उत्पन्न हुआ बड़ा कठिन दाह (जलन) है॥ १॥ तब बड़े प्रेमसे चरणोंमें सिर नवाकर रघुकुल वीर श्रीरामजीने उठकर बिदा माँगी॥ २॥

टिप्पणी—१(क) *'सकइ न बोलि'* से जनाया कि बोलना चाहते हैं पर वचन नहीं निकलता। *'सकइ न बोलि'* का कारण शोक बताया। (ख) *'अति अनुरागा'* का भाव यह कि वनवास सुनकर उनके मनमें

किंचित् दुःख न हुआ, यथा—*'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हरासू॥'* (१४९। ७) जैसी भक्ति पितामें पूर्व थी उससे भी अब अधिक है, उनके वचनके पालनेमें इन्हें अत्यन्त अनुराग है; अतएव उठकर बिदा माँगी। पुनः, बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करते समय अनुराग-पुलक होना ही चाहिये, यथा—*'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवन जाय॥'* (दो० ४२) अतएव *'अति अनुरागा'* कहा।

टिप्पणी—२ *'रघुबीर बिदा तब माँगा'* इति। यहाँ रघुवीर कहकर उनकी धर्मवीरता दिखायी। १४ वर्ष वनवास सुनकर मन कादर न हुआ। (धर्मवीरताके अतिरिक्त मुख्यतः त्याग और विद्या ये दो वीरताएँ और भी सूचित कीं।) पिताकी आज्ञापालनमें धर्म-रक्षण, हर्षविषादरहित चित्तसे चक्रवर्तीके राज्यसत्ताके तृण-समान त्यागमें त्यागवीरता और *'हृदय न हरष बिषाद कछु पहिरे बलकल चीर'* में विद्यावीरताकी प्रतीति होती है। *'बिप्र धेनु सुर संत'* और *'महि'* का हित करनेके लिये ही यह सब किया, इससे कृपावीरता सबका मूल है। (प० प० प्र०) *'तब'* अर्थात् चरणोंमें मस्तक नवानेके उपरान्त, अथवा जब राजा न बोले तब उठकर बिदा माँगी।

पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरष समय बिसमउ कत कीजै॥ ३॥
तात किए प्रिय प्रेम प्रमादू। जसु जग जाइ होइ अपबादू॥ ४॥

शब्दार्थ—**प्रमाद**=असावधानी, **'प्रमादोऽनवधानता'** इति (अमरकोश)= किसी कारणसे कुछको कुछ जानना और कुछका कुछ करना; कर्तव्यमें चूक, अन्तःकरणकी दुर्बलता। अपवाद=निन्दा।

अर्थ—पिताजी! मुझे आशीर्वाद और आज्ञा दीजिये। हर्षके समय आप दुःख (शोक) क्यों करते हैं? ॥ ३॥ हे तात! प्रियके प्रेमसे प्रेमवश (होकर) प्रमाद करनेसे* संसारसे यश जाता रहेगा और निन्दा होगी॥ ४॥

टिप्पणी—१ *(क) 'असीस आयसु मोहि दीजै'* इति। माता-पिताकी आज्ञा और आशीर्वाद मुदमङ्गलदायक है, ऐसा मातासे आज्ञा माँगते समय श्रीरामजीने स्वयं कहा है, यथा—*'आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥'* (५३। ७) और पिताको जो संदेश भेजा है उसमें भी कहा है कि *'बन मग मंगल कुसल हमारें। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारें॥' 'तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं। प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहौं॥'* (१५१) कृपामें आशीर्वादका भाव है। (ख) *'हरष समय बिसमउ कत कीजै'* इति। हर्षका समय है, क्योंकि सत्यका पालन करनेसे संसारमें सुयश होगा और मैं वचन पालन करनेको सहर्ष तैयार हूँ, आप कैकेयीसे उऋण हो जायँगे। विशेष *'मंगल समय सनेह बस।'* (४५) में देखिये।

टिप्पणी—२ [(क) *'किए प्रिय प्रेम प्रमादू'*—भाव कि प्रियमें प्रेम करना तो उचित है पर प्रेमवश कातर बनकर प्रमाद करना अनुचित है। प्रेमजनित प्रमाद कारण है, अपयश और निन्दा उसका फल कार्य है। (प० प० प्र०)] (ख) *'जसु जग जाइ होइ अपबादू'* इति। सत्यके समान धर्म नहीं, यथा—*'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।'* उसके नाशसे पाप होता है और पापसे अपयश, यथा—*'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।'* (२८। ५) *'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'* (७। ११२। ७) *'जग'* का भाव यह कि आपका यश जगत्भरमें विख्यात है, यथा—*'दसरथ गुनगन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥'* (२०९। ८) वह यश मिट्टीमें मिल जायगा और उसकी जगह सारे संसारमें अपयश होगा। माता कैकेयीकी आज्ञा है—*'पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहिं अजसु न होई॥'* (४३। ५) वही बात श्रीरामजी इस समय पितासे समझाकर कह रहे हैं—*'तात किए प्रिय प्रेम·····।'*

नोट—वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने पितासे कहा है कि 'माता कैकेयीको जो-जो वर आपने दिये हैं वे

* रा० प्र०—प्रिय प्रेम प्रमादू=प्रमादसे प्रियमें प्रेम करनेसे।

साङ्गोपाङ्ग पूरे हों, आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो यही मैं चाहता हूँ। मैं आपको सत्यवादी देखना चाहता हूँ, असत्यवादी नहीं। हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं यह बात आपके सामने सत्य और धर्मकी शपथ करके कहता हूँ। पिता देवताओंसे भी बढ़कर आराध्य देवता है, यही समझकर मैं आज्ञाका पालन करके १४ वर्ष बीतनेपर लौट आऊँगा, अतः आप शोक न करें। हमलोग बनमें बड़े आनन्दसे रहेंगे। (सर्ग ३४। ४०—५९)। ये सब भाव यहाँ आ गये।

सुनि सनेह बस उठि नर नाहाँ। बैठारे रघुपति गहि बाहाँ॥ ५॥
सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं। रामु चराचर नायक अहहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**बाहाँ**=बाँह, कंधेसे निकलकर दंडके रूपमें गया हुआ अङ्ग, जिसके छोरपर हथेली या पंजा लगा होता है; भुजा; बाहु। **कहुँ**=बारेमें, विषयमें। **चराचर**=चर (जङ्गम, चलनेवाले, चेतन) और अचर (स्थावर, जड़)।

अर्थ—यह सुनकर प्रेमके वश उठकर राजाने रघुनाथजीको बाहु पकड़कर बिठाया॥ ५॥ (और बोले) हे तात! सुनो, तुम्हारे विषयमें मुनि कहते हैं कि राम चराचरके स्वामी हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *(क) 'सनेह बस उठि'* इति। भाव कि राजाके शरीरमें शक्ति नहीं है, स्नेहसे शक्ति आ गयी, इससे उठ सके। (ख) 'नरनाह' का भाव कि राजनीतिमें यह उपदेश है कि राजा अनेक उपायोंसे अपना अर्थ सिद्ध करे। यहाँ श्रीरामजीको रखनेके लिये राजाने बहुत उपाय किये, यथा—*'राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी॥'* इसीसे 'नरनाह' कहा। (*'जद्यपि नीति निपुन नरनाहू।'* (२७। ७ भी देखिये)। (ग) *'गहि बाहाँ'*—राजा व्याकुल हैं, बोल नहीं पाते। देखते हैं कि श्रीरामजी उठ खड़े हुए हैं, चल न दें; अतएव घबड़ाकर हाथ पकड़कर बिठाया और धैर्य धारण करके बोले। यहाँतक राजाकी व्याकुलता दिखायी।

टिप्पणी—२ *'सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं'*...... इति। राजा माधुर्य ग्रहण किये हुए हैं; अतएव वे 'तात' सम्बोधन कर रहे हैं और मुनिलोग ऐश्वर्य ग्रहण किये हैं; वे ईश्वरभावसे राम कहते हैं और रामहीमें रमते हैं, अतएव दूसरे चरणमें 'राम' शब्द दिया। वसिष्ठजीने राजासे कहा ही है—*'सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥ भएउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥'* (२। ४। ७। ८), *'तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहुँ पावा॥'* (१। २०८। ८) इत्यादि।

जब राजाने कोई उपाय चलता न देखा तब यह निश्चय जानकर कि माधुर्यमें ये हमारा वचन न त्याग करेंगे, वे ऐश्वर्यकी बात कहने लगे, तात्पर्य यह है कि ईश्वर व्यवहारसे भिन्न है (पण्डितजी—'नायक'=नियन्ता, दण्डदाता, शुभाशुभ कर्मोंका फलदाता, इत्यादि। रा० प्र०—भाव यह कि तुम नियन्ता हो तुमको उचित बात करनी चाहिये और यहाँ अनुचित हो रहा है)।

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदय बिचारी॥ ७॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई॥ ८॥

अर्थ—शुभ और अशुभ (भले-बुरे) कर्मोंके अनुसार ईश्वर हृदयमें विचारकर फल देता है॥ ७॥ जो कोई कर्म करता है वही फल पाता है, ऐसा वेद और नीति और सबलोग भी ऐसा ही कहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—(क) *'ईस देइ फलु'* इति। भाव यह कि ईश्वर कर्मका फल देनेवाला है, कर्मफलका भोगनेवाला नहीं है, फलदाता है न कि फलभोक्ता। यथा—*'करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।'* तो तुम वनको क्यों जाते हो, हमने जो कर्म किया है उसका फल हमें भोगने दो। (ख)—*'हृदय बिचारी'* का भाव यह कि कर्मकी गति कठिन है, ईश्वरके विचारमें आती है और किसीके समझमें नहीं आती, यथा—*'कठिन करम गति जानि बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'* (ग) यहाँ परोक्षमें ऐसा कह रहे हैं; क्योंकि साक्षात् पुत्रकी प्रशंसा उनके सम्मुख न करनी चाहिये।

नं० प०—पहले कहा कि *'चराचर नायक अहहीं।'* भाव कि जब आप चराचरके मालिक हैं, तब

आपको कर्मोंका भोक्ता न होना चाहिये, प्रत्युत हमारे और कैकेयीके बीचमें न्याय करना चाहिये। तात्पर्य कि आप वनको न जाइये। इस कथनपर जब श्रीरामजीने कुछ ध्यान न दिया तब राजाने फिर कहा *'सुभ अरु……'* अर्थात् ईश्वर शुभ और अशुभ कर्मोंको हृदयमें विचारकर उसके सदृश फल देते हैं, तब हमारे कर्मोका फल भी कर्मके सदृश हमको देना चाहिये अर्थात् हमारा कर्म ऐसा नहीं है कि जिसका फल वनवास दिया जाय, किंतु विचारकर दूसरा फल दिया जाय। इसलिये आपको वन न जाना चाहिये।—यह दूसरा उपाय श्रीरामजीको रखनेका है। इसपर भी श्रीरामजीके रहनेका आशय (रुख) नहीं पाया, तब राजाने फिर कहा कि *'करइ जो करम…।'* (विशेष आगे दोहा ७७ में देखिये।)

टिप्पणी—२ *'करइ जो करम पाव फल सोई'* इति।—तात्पर्य यह कि यहाँ व्यतिक्रम देखनेमें आता है कि अपराध तो करे कोई और फल भोग करे कोई और, यह कैसा?

टिप्पणी—३ यहाँतक तीन बातें राजाने कहीं, तीन उपाय रोकनेके किये। प्रथम तो श्रीरामजीको ईश्वर कहा और उसकी पुष्टताके लिये मुनियोंका प्रमाण दिया कि *'सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं। राम चराचरनायक अहहीं॥'* दूसरे, कर्मानुसार फलका दाता उनको कहा और उसको इस तरह पुष्ट करते हैं कि *'ईस देइ फल हृदय बिचारी'* अर्थात् ईश्वर हृदयमें विचारकर फल देता है तो कर्मके अनुसार ही फल होता है इसके विपरीत नहीं हो सकता। तीसरे, जो कर्म करता है वही फल पाता है; इसकी पुष्टताके लिये लोक और वेद दोनोंका प्रमाण देते हैं—*'कह सबु कोई',* यह लोकमत है।

दो०—औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानइ जोगु॥७७॥

शब्दार्थ—**भगवंत**=भगवान्, ईश्वर। **गति**=कर्तव्य।

अर्थ—अपराध करे कोई और फल भोगे और (दूसरा)! भगवान्‌की गति बड़ी ही विचित्र है। संसारमें उसे जाननेके योग्य कौन है? (अर्थात् कौन जान सकता है? कोई भी नहीं)॥७७॥

टिप्पणी—इस कथनका आशय यह है कि—अपराध करनेवाले हम हैं, कैकेयी है, मन्थरा है; अतएव हम सबको फल भोगना चाहिये, तुमको वन कैसे जाना चाहिये? अथवा, अपराध मुखने किया है, मुखको ही सजा मिलनी चाहिये, यथा—*'बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥'* (१६२। २) सो उसको दण्ड न मिलकर आँखोंको दण्ड मिला, तुम्हारे रूप-दर्शनमें विक्षेप हुआ। अपराध कोई करे और फल दूसरा पावे, यह अनीति ईश्वरमें घटित हो रही है; इसीसे कहते हैं कि *'को जग जानइ जोगु'* अर्थात् ईश्वर योग्य फल देता है पर कोई जान नहीं सकता, दोष न जाननेवालेका है, ईश्वरका नहीं, वह भूल नहीं सकता। उनका कर्तव्य बड़ा विचित्र है इसीसे कोई जान नहीं सकता।

नोट—१ वाल्मीकीयमें इससे कुछ मिलता हुआ वचन यह है '**वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि। अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः॥**' (३७) '**न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम। अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि॥**' (वाल्मी० सर्ग ३४) अर्थात् कुलोचित आचारको नष्ट करनेवाली इस कैकेयीके कहनेमें पड़कर मुझे धोखा हुआ और उसका फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है। इसमें आश्चर्य नहीं; तुम मेरे जेठे पुत्र हो और मुझे सत्यप्रतिज्ञ देखना चाहते हो। पर इसमें ईश्वरभाव किंचित् भी नहीं आने पाया है। इस श्लोकमें फल भोगनेका कारण दशरथजी महाराजने स्वयं बताया है कि तुम हमारे पुत्र हो, मुझे सत्यप्रतिज्ञ देखना चाहते हो, इसीसे हमारे कर्मका फल-भोग तुमने स्वयं अपने ऊपर ले लिया है।—मिलान करनेसे *'अति बिचित्र……जोग'* इस कथनकी भावोत्कृष्टताको श्लोकमें कहा हुआ उत्तर नहीं पा सकता! इस श्लोकसे अपराध राजाका ही सिद्ध होता है। रा० प्र० कार भी अपराध राजामें ही लगाते हैं। बैजनाथजीका मत है कि अपराध कैकेयीने किया कि निरपराध तुमको वन दिया और अवधवासियोंको वियोग-दुःख दिया; इस भागवतापराधका फल हमको भोगना पड़ा। 'अथवा' में वे राजाका अपराध लिखते हैं कि पहले श्रीरामजीको

राज्य सबके सामने दे दिया फिर स्त्रीके वश होकर पूर्ववचनको त्याग दिया। इसका फल हमको और कैकेयीको भोगना चाहिये था।

श्रीनंगेपरमहंसजी—*'करइ जो करम·····जोगु'* इति। भाव—(१) राजाको यह बात निश्चय हो गयी थी कि हम जो श्रीरामजीको युवराज्य दे रहे थे उसके सम्बन्धमें कैकेयीने यही समझ रखा है कि इसमें कौसल्याजीकी सम्मति है। यथा—*'जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥'* (३३। ८) इसी ईर्ष्यासे वह श्रीरामजीको वन भेज रही है। कैकेयीकी उसी बातपर राजा कहते हैं कि हे तात! जो कर्म करता है वही फल पाता है···। भाव कि कर्म तो हमने किया है कि बिना कैकेयीसे पूछे तुमको राजगद्दी देनेकी तैयारी की, अतएव उसका परिणाम हमको मिलना चाहिये। पर ऐसा न होकर हमारे कर्मका फल आपको दिया जाता है अर्थात् आप वनको जा रहे हैं। यह क्यों ऐसा हो रहा है? यह न होना चाहिये। कैकेयीको जो कुछ दण्ड देना है वह (कैकेयी) हमको देवे, पर आपसे और हमारे कर्मसे क्या सम्बन्ध है? यदि है तो यह भगवान्‌की अति विचित्रता है। यह तीसरा उपाय राजाने श्रीरामजीको रोकनेके लिये किया। परंतु इसपर भी श्रीरामजीने ध्यान न दिया। यहाँ राज्याभिषेकके कर्ता होनेसे राजा अपराधके कर्ता हैं, उनके कर्मके भोक्ता श्रीरामजी हुए और राज्याभिषेकके कर्म-फलदाता कैकेयी हैं।

(२) कैकेयीको अपराधी माननेमें कई दोष आते हैं। यदि राजा वर माँगना अपराध मानते हैं तो वर न देते, कह देते कि हम ऐसा वर नहीं देते। बस बात खतम हो जाती फिर उसका फल भोगना क्यों कहते? दूसरे, यदि कैकेयीको अपराधी मानते हैं तो फल देनेवाला तीसरा व्यक्ति चाहिये। भगवान् कर्मोंका फल तत्क्षण नहीं देते। तत्क्षण कर्मोंका फल मनुष्य अथवा राजा देता है। तीसरा विरोध यह है कि कैकेयीने तो श्रीरामजीको वन भेजकर दुःख दिया है परंतु राजा तो मोहके वश होकर स्वयं दुःख भोग रहे हैं, (यह) कैकेयीके कर्म-फलका भोग कैसे माना जा सकता है।·····'

(३) राजा श्रीरामजीको ईश्वर सूचित करते हैं, तब तो ईश्वरमें 'भोग' शब्द नहीं बनता?' इस शङ्काका समाधान यह है कि राजाने जो श्रीरामजीको रखनेका उपाय किया है वह पुत्रभावमें है न कि ईश्वर-भावमें। पुनः, जब भगवान् शाप ग्रहण करके अवतार लेते हैं तो दुःख भी भोगना पड़ता है, यथा—*'मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥'* अतः भोग शब्द भी घट सकता है। पुनः, राजाने श्रीरामजीको चराचरका नायक मुनियोंका कहा हुआ कहा है; उसपर यह भाव उसी चौपाईतक रहेगा। वह केवल न्यायहेतुमें कहा है। उसके बाद जो वचन है वह माधुर्यमें है; क्योंकि बिना माधुर्यके उपाय करके रखना नहीं घटित हो सकता।

(४)—राजा भी निरपराध हैं; पर श्रीरामजीको रखनेके लिये वे अपना अपराध सूचित करते हैं।

नोट—२ *'अति बिचित्र भगवंत गति·····'* के और भाव—(क) जब श्रीरामजीने इसका उत्तर न दिया तब राजा आप ही समाधान करते हैं कि *'अति बिचित्र·····'* अर्थात् काम करें हम, फल भोगें आप! यही विचित्रता है। अथवा, उत्तरार्द्धमें वक्ता रामजी हैं। वे समझाते हैं कि आप क्या करें परमेश्वरकी गति अति विचित्र है। (रा० प्र०) रघुनाथजीने यह उत्तर देकर, कि भगवान्‌की गति अति आश्चर्यमय है उसका जाननेवाला कोई नहीं, सबको निर्दोष कर दिया और यह भी लक्षित कर दिया है कि जो कुछ होता है भगवान्‌की इच्छासे होता है। (पण्डितजी) स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'दोहेके उत्तरार्धको श्रीरामजीका वचन मानना चाहिये, कारण कि दशरथजीने यह प्रकट कर दिया है कि *'राम चराचरनायक अहहीं।'* पर *'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु'*, इसीसे अपना प्रभुत्व छिपाने और माधुर्य-भाव प्रकट रखनेके लिये वे *'अति बिचित्र भगवंत गति'* ऐसा कहते हैं। भाव कि यद्यपि व्यवहारमें कभी-कभी ऐसी प्रतीति होती है कि *'औरु करइ अपराध कोउ और पाव फल भोग'*, तथापि वस्तुतः ऐसा है नहीं, प्रत्येक जीव अपने कर्मका ही फल भोगता है। प्रमाण—*'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥'* *'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥'*—यह सिद्धान्त निरपवाद है। पर

कभी-कभी सुख-दुःखात्मक भोगोंका कारण जाना नहीं जाता। पर विधाता तो जानते ही हैं—'**कर्मणो गहना गतिः।**' (प० प० प्र०) श्रीबैजनाथजी इसको राजाका ही वचन मानते हैं।

राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किए छलु त्यागी॥ १॥
लखी रामरुख रहत न जाने। धरम धुरंधर धीर सयाने॥ २॥
तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अति हित बहुत भाँति सिख दीन्ही॥ ३॥

अर्थ—राजाने श्रीरामजीको रखनेके* लिये छल छोड़कर बहुत उपाय किये॥ १॥ परंतु जब श्रीरामजीका रुख देखकर उनको रहते न जाना, (क्योंकि) वे धर्मधुरन्धर, धीर और सयाने हैं॥ २॥ तब राजाने सीताजीको हृदयसे लगा लिया और बड़े प्रेमसे बहुत तरहसे शिक्षा दी॥ ३॥

नोट—१ *'बहुत उपाय……'* इति। बहुत उपाय ये हैं—(१) प्रथम कैकेयीसे उपाय किये, यथा—*'राखु रामु कहँ जेहि तेहि भाँती।'* (२) फिर दैवी उपाय यथा—*'बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं।'* (४४। ६) *'हृदय मनाव भोरु जनि होई। रामहिं जाइ कहइ जनि कोई।'* (३७। २) *'उदय करहु जनि रबि रघुकुल गुर।'* (३७। ३) और *'सुमिरि महेसहिं कहइ निहोरी'* से *'सो मति रामहिं देहु। बचन मोर तजि रहहिं घर……।'* (४४) तक। यह सब साधारण उपाय कर चुके और (३)—*'सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं'* इत्यादि विशेष उपाय हैं जिनकी व्याख्या पूर्व की जा चुकी है। कैकेयीके साथ साम, दाम, भय, भेद चारों नीतियाँ काममें लाये। (पाँड़ेजी, रा० प्र०)

नोट—२ *'छलु त्यागी'* अर्थात् निष्कपट हृदयसे, यह नहीं कि ऊपर कुछ और भीतर कुछ हो। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि छलसे यहाँ धर्मरूपी 'छल' अभिप्रेत है। *'छल त्यागी'* अर्थात् कैकेयीकी शङ्का त्यागकर राजाने यह कहा कि मेरा वचन रहे या न रहे तुम घर रहो, बनको न जाओ। (पं० वै०) *'बहुत उपाय किए छल त्यागी'* में वे भी उपाय आ सकते हैं जो वाल्मीकीय आदिमें हैं। अर्थात् मैं अपने अधीन नहीं हूँ, अतएव राज्य करने योग्य नहीं हूँ, तुम मुझे कैद करके राजा बनो। यथा—'**अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः। अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥**' (सर्ग ३४। २६) बैजनाथका मत है कि राजाने कहा कि हम तुम्हें पहले ही राज्य दे चुके अतः तुम मुझे कैद करके राज्य ले लो। स्त्रीवश हूँ अतः यह वचन प्रमाण नहीं है।

नोट—३ *'लखी रामरुख……सयाने'* इति। राजाके कहनेपर कि मेरी बुद्धि मोहित हो गयी है, तुम मुझे कैद करके राज्य करो, श्रीरामजीने उन्हें समझाया है, उस समय वाल्मीकिजीने भी उन्हें धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ और वाक्यकोविद विशेषण दिया है—'**एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतांवरः। प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः॥**' (२। ३४। २७) और राजाने भी '**सत्यात्मनः**' '**धर्माभिमनसः**' कहा है—'**नहि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव। सन्निवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन॥**' (२। ३४। ३२) अर्थात् पुत्र! तुम स्वभावसे ही सत्यप्रेमी और धर्माभिमानी हो, तुम्हारा वन जानेका निश्चय बदला नहीं जा सकता।—वाल्मी० के '**धर्मभृतांवरः**' और '**सत्यात्मनः, धर्माभिमनसः**' ही यहाँ *'धर्मधुरंधर धीर'* से '**वाक्यकोविदः**' सयानेसे सूचित किया है। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने स्पष्ट कहा है कि वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा निश्चय है वह बदल नहीं सकता। आपने युद्धमें जो कैकेयीको वर दिया है वे साङ्गोपाङ्ग पूरे हों, आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो; मैं आपकी उस आज्ञाका पालन करूँगा। (श्लो० ४३) मानसकल्पके 'राम' विशेष शीलसंकोची स्वभावके हैं, वे केवल चेष्टासे सूचित कर देते हैं।

टिप्पणी—१ *'लखी रामरुख रहत न जाने'* इति। *'लखी रामरुख'* से जनाया कि राजाने श्रीरामजीका ऐश्वर्य यहाँ वर्णन किया, इससे वे सकुच गये और संकोचवश उन्होंने उत्तर न दिया। अतएव चेष्टाद्वारा उन्होंने अपना उत्तर प्रकट कर दिया। क्यों न रहेंगे? इसका कारण राजा स्वयं समझते हैं कि—वे धर्मकी

* पं० रामकुमारजी 'स्नेह रखनेके लिये' ऐसा अर्थ करते हैं।

धुरीको धारण करनेवाले हैं, अतएव हमारा वचन झूठा न होने देंगे, हमारे वचनको न त्याग करेंगे, यथा—*'पितु आयसु सब धरमक टीका।'* पुनः, वे धीर हैं, इन्द्रियजित हैं, उनको विषय-भोगकी इच्छा नहीं है, यथा—*'नाहिन राम राजके भूखे। धरम धुरीन विषयरस रूखे॥'* और, सयाने हैं अर्थात् धर्मकी गतिको जानते हैं, पण्डित हैं, सदसद्विवेकमें निपुण हैं। [वा, धीर हैं, वनवासके दुःख समझकर घबराये नहीं। वा सत्य और धर्मके निमित्त अपने ऊपर वनका कष्ट लेंगे, अतएव धीर कहा। सयाने हैं क्योंकि लक्ष्मणजीको और जानकीजीको ठीक साथ चुना। भाई अनुज और अर्धाङ्गिनी कार्य इन्हींसे सधेगा; फिर और किसीको क्यों साथ ले जाकर वनके दुःख सहावें। (पं०)]

टिप्पणी—२ *'अति हित बहुत भाँति सिख दीन्ही'* इति। जब श्रीरामजीकी ओरसे निराश हुए तब बड़े प्यारसे श्रीसीताजीको शिक्षा देने लगे जो आगे दी हुई है—वनके दुःख, मायके-ससुरेके सुख इत्यादि दिखाये। *'बहुत भाँति'* से जनाया कि विस्तारपूर्वक शिक्षा दी, जैसी रामजीने दी थी।

कहि बन के दुख दुसह सुनाए। सासु ससुर पितु सुख समुझाए॥४॥
सिय मनु रामचरन अनुरागा। घरु न सुगमु बनु बिषमु न लागा॥५॥

अर्थ—वनके कठिन दुःख कह सुनाये, सास-ससुर और पिताके (घरके) सुख समझाये॥४॥ पर, श्रीसीताजीके मनमें श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग है (इसलिये उन्हें) न तो घर सुखद लगता था और न वन विषम (कठिन, दुःखद) लगता था॥५॥

नोट—१ राजाने वनके दुःख सुनाये जिसमें वे वनको न जायँ और घरके सुख सुनाये जिसमें घर रहें। वनके दुःख सुनाये और ससुराल और मायकेके सुख समझाये अर्थात् विस्तारसे कहे। *'सास ससुर पितु सुख'* अर्थात् कभी यहाँ रहना कभी पिताके यहाँ, यथा—*'पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥'* (८२। ५) (पु० रा० कु०) *'मइकें ससुरे सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान। तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥'* (९६) २—*'समुझाए'* पदसे जनाया कि सीताजी पतिप्रेमके आगे सब सुख भूल गयी हैं। समझानेकी क्रिया मनके लिये है और मन दूसरी ठौर लगा है, अतः समझाना व्यर्थ ही हुआ—(रा० च० मिश्र)।

नोट—२ *'घरु न सुगमु बनु बिषमु न लागा'* इति।—श्रीरामचरणानुरागसे विषयसुखकी इच्छा नहीं रही, यथा—*'सुमिरत रामहिं तजहिं जन तृन सम बिषय बिलासु। रामप्रिया जगजननि सिय कछु न आचरजु तासु॥'* (१४०) वन विषम न लगा अर्थात् प्रिय लगा, यथा—*'सिय मनु रामचरन अनुरागा। अवध सहस सम बनु प्रिय लागा॥'* (१४०। ४) वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि **'नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा।'** (२। ३७। ३७) अर्थात् वसिष्ठजीके कहनेपर भी सीताजीने अपना विचार नहीं बदला, क्योंकि वह अपने पतिके समान रहना चाहती थी।

औरउ सबहिं सीय समुझाई। कहि कहि बिपिन बिपति अधिकाई॥६॥
सचिव नारि गुरनारि सयानी। सहित सनेह कहहिं मृदु बानी॥७॥
तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनवासू। करहु जो कहहिं ससुर गुर सासू॥८॥

अर्थ—और सबोंने भी वनके दुःखोंकी अधिकता कह-कहकर श्रीसीताजीको समझाया॥६॥ मन्त्री-(सुमन्त्रजी-) की स्त्री, गुरु वसिष्ठजीकी स्त्री अरुन्धतीजी और भी सयानी स्त्रियाँ प्रेमसहित कोमल वाणीसे कह रही हैं (कि)॥७॥ तुमको तो वनवास नहीं दिया गया। जो ससुर, गुरु और सास कहती हैं, तुम वही करो॥८॥

टिप्पणी—१ *'औरउ सबहिं·····'* अर्थात् जब राजाके समझानेपर भी उन्हें वन विषम न लगा तब औरोंने समझाया। *'अधिकाई'* का भाव कि जितना राजाने कहा था उससे कहीं अधिक दुःख इन्होंने कहे। *'समुझाई'* अर्थात् राजाने केवल सुना भर दिया था और इन्होंने अच्छी तरह समझा-समझाकर कहा। राजाने घरका सुख समझाकर कहा था, इसीसे इन स्त्रियोंने उसे नहीं कहा।

२—पहले स्त्रियोंने वनके दुःख समझाये जैसे राजाने घरका सुख समझाया था। जब इससे कुछ प्रभाव न पड़ा तब मन्त्रीकी स्त्री, गुरुपत्नी और भी बड़ी-बूढ़ी अर्थात् जिनका दबाव पड़ सकता था, वे सब उपदेश करने लगीं जिसमें उनका कहना मानकर रह जायँ। *'सहित सनेह मृदु बानी'* अर्थात् भीतर स्नेह है, बाहर वाणी मृदु है, भीतर-बाहर दोनोंसे स्वच्छ हैं।

३—*'तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनबासू।'*...... ' इति। अर्थात् श्रीरामजीको माता-पिताने वनवास दिया, वे उनकी आज्ञा मानकर वनको जाते हैं, और तुमको सास-ससुर घर रहनेको कहते हैं, तुम घर रहो; जैसे वे आज्ञा-पालन करते हैं वैसे ही तुम भी पालन करो। *'गुरु'* का भाव कि हम सब तुम्हारे गुरुके समान हैं, बड़े लोग गुरु कहलाते हैं, अतएव हमारा वचन मानो। [रा० च० मिश्र०—*'ससुर गुरु सासू'* यहाँ अनुचित-उचित व्यवहार समझानेके निमित्त ससुर और सासूके मध्यमें गुरुको रखा।]

वि० त्रि०—*'कहि कहि बिपिन'''अधिकाई।'* छप्पय *'वन निर्जन झनझनत, चलत सन-सन समीर खर। भूमि तपत ज्यों भाड़, आगि बरसत दिनकर कर। जहँ तहँ बीछी ब्याल, फिरत गज भालु बाघ हरि। दिनहि भूत बेताल, नचत बिकराल रूप धरि। जीवजंतु जरि जरि मरै, जब दावानल लगि परै। याते तू बन जान को ध्यान वधू जनि चित धरै।'*

दो०—सिख सीतलि हित मधुर मृदु सुनि सीतहि न सोहानि।
सरदचंद-चंदिनि लगत जनु चकई अकुलानि॥ ७८॥

अर्थ—(इनकी) शीतल, हितकारी, मीठी और कोमल शिक्षा सुनकर श्रीसीताजीको अच्छी न लगी। मानो शरद्ऋतुके चन्द्रमाकी चाँदनी लगते (स्पर्श होते) ही चकई व्याकुल हो गयी है॥ ७८॥

नोट—१—सीखको चाँदनीसे उपमा दी। चाँदनी शीतल है और हितकर है। स्त्रियोंके वचन स्नेहमय हैं, अतएव मधुर हैं। वचन मृदु हैं अतएव सीख भी मृदु है। वैसे ही चाँदनीमें अमृत है। अमृत मधुर है और स्नेह अमृत है। चाँदनीके स्पर्शमात्र अर्थात् उसके प्रकाशमात्रसे चकई व्याकुल होती है। यहाँ 'सुनना' ही स्पर्श है। वह सबको शीतल और सुखद है पर चकईको वियोग दुःख देती है; वैसे ही वचनोंसे पतिका वियोग-दुःख होता है।

नोट—३ शरच्चन्द्रकी चाँदनीसे उपमा देनेका कारण यह है कि चाँदनी तो सब दिनकी चकईको संतप्त करती है पर शरद्की चाँदनी निर्मल होनेसे अधिक ताप देती है—(पु० रा० कु०)।—यहाँ प्रतिवस्तूपमालङ्कार है।

पण्डितजी—सीखमें चार गुण दिखाये। १-शीतल है अर्थात् तापनिवारक है। २-हित है अर्थात् उत्तम फल देनेवाली है। ३-मधुर अर्थात् सुन्दर शब्दोंसे युक्त है। ४-मृदु अर्थात् कोमलार्थक है।

सीय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई॥ १॥
मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥ २॥

शब्दार्थ—**तमकि**=तमककर, क्रोधके आवेशमें, क्रोधसे तेजीसे। तमकना=जोशमें आना, क्रोधके कारण उछल पड़ना। आनी (आनना=लाना)=लाकर।

अर्थ—श्रीसीताजी संकोचवश उत्तर नहीं देतीं। इन बातोंको सुनकर कैकेयी तमक उठी॥ १॥ मुनियोंके वस्त्र (वल्कल, चीर), भूषण (मालामेखलादि) और पात्र (कमण्डलु) ले आयी (और रामजीके) आगे रखकर उनसे कोमल वाणीसे बोली॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) पुरुषोत्तमरामकुमारजी— *'सीय सकुच बस उतरु न देई'* अर्थात् उत्तर दे सकती हैं पर बड़ोंके संकोचसे उन्होंने उत्तर न दिया। [न बोलीं कि खण्डन-मण्डन करके इनका अपमान क्यों करें, जो उन्हें भाया सो उन्होंने कहा। कैकेयीके तमकनेका कारण यह कि मौन अर्ध 'अङ्गीकार' है, कदाचित् स्त्रियाँ उपदेश करें और ये रह जायँ। (पं०)] (ख) *'तमकि उठी कैकेई'* इति।—कैकेयीके तमक

उठनेका कारण यह है कि—राजाने रामजीके रखनेके लिये बहुत उपाय किये, यथा—*'राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये''''*; पर उन्होंने कुछ उत्तर न दिया, यथा—*'लखी रामरुख रहत न जाने।'* तब राजाने श्रीजानकीजीको घर रहनेको कहा और अन्य लोगोंने भी कहा, परंतु इन्होंने भी कुछ उत्तर न दिया। अतएव कैकेयीने समझा कि ये इन लोगोंके कहनेसे घर रहना चाहते हैं, बन जानेकी इच्छा नहीं है।

वि० त्रि०—सीताजीके उत्तर न देनेका कारण सङ्कोच था, कैकेयीने समझा कि **'मौनं स्वीकार लक्षणम्।'** वह प्रसन्न थी कि सीताके चले जानेसे रामजीका सम्बन्ध अयोध्यासे एकदम टूट जायगा। समझाने-बुझानेका प्रभाव सीताजीपर पड़ते देखकर उससे सहा न गया, बातको समाप्त करनेके लिये वह उठ पड़ी।

टिप्पणी—२ (क) *'मुनि पट भूषन भाजन आनी।''''''* इति। वल्कल आदिको लाकर श्रीरामजीके सामने रखनेका भाव यह है कि जिसमें ये तपस्वी वेष बना लें तो इनके वन जानेका निश्चय हो जायगा, फिर कोई आप ही घर रहनेके लिये इनसे न कह सकेगा। तपस्वी वेषमें रहनेका ही उसने वर माँगा था। पुनः, आगे इससे रखा कि रामजी धर्मात्मा हैं, मुनिवेषकी सामग्रीका अनादर न करेंगे, देखकर अवश्य धारण कर लेंगे।

नोट—१ कैकेयीने केवल श्रीरामजीके लिये वनवास माँगा था, अतः राजा, वृद्धा स्त्रियों और गुरुपत्नी आदिका कहना भी उचित ही था कि *'तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनबासू।'* कैकेयी भी कुछ कह न सकती थी। भगवान् या देवमायाकी ही यह प्रेरणा जान पड़ती है कि वह श्रीरामजीके आगे लाकर तीनों मूर्तियोंके लिये मुनिवस्त्र-भूषणादि रखती है। यह बात आगेके *'सजि बन साज समाजु सब बनिता बंधु समेत।'* (७९) से स्पष्ट है।

नोट—२ भगवान्‌की विचित्र लीला है। कैकेयीने तीनोंके लिये मुनि-चीर आदि लाकर सामने रख दिये। इससे यह स्पष्ट है कि उसके संग्रहमें ये सब पहलेसे ही थे। यह प्रारब्धकी रचना विचित्र है। (प० प० प्र०)

नोट—३ आगे लाकर रखनेका आशय यही था कि यहींसे मुनिवेष बनाकर जायँ। जितने लोग उनके पक्षके हैं वे राज्य-वेषके बदले रामका यह वेष देख लें। राजासे उसने कहा ही था—*'होत प्रात मुनिबेष धरि जौं न राम बन जाहिं।''''''* और *'जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥'* दूसरे इससे उसको संतोष हो जायगा कि हाँ, वे वनको चले जायँगे, अब घरमें न ठहरेंगे।

नोट—४ इससे यह भी जनाया कि वस्त्र-भूषणादि जो तुम पहने हो उन्हें उतार दो। वे सब अब तुम्हारे नहीं किंतु भरतके हैं। वाल्मीकीयमें यह प्रसंग बहुत हृदय द्रावक है, पढ़नेयोग्य है। (प० प० प्र०)

नोट—५ अ० रा० की कैकेयीने तो श्रीराम, लक्ष्मण, सीता तीनोंको अलग-अलग वल्कल वस्त्र दिये। पर पं० राजकुमारजीका मत ऐसा जान पड़ता है कि मानसकी कैकेयीने केवल रामजीको वल्कल वस्त्र दिये और उन्होंने तुरंत उन्हें धारण किये—*'राम तुरत मुनिबेष बनाई।'* और आगे जो कहा है *'सजि बन साज समाजु सब''''''* वह वन साज-समाज वह है जो श्रीसीताजीने पतिके आज्ञानुसार स्वयं ठीक कर रखा था, यथा—*'बेगि करहु बनगमन समाजू।'*

नोट—६ *'बोली मृदु बानी'* इति। जब राजा श्रीरामजीको बन जानेको नहीं कहते तो रामजीके ऊपर तो कैकेयीका कुछ जोर है ही नहीं, जो वह जबरदस्ती वन भेज दे, यही समझकर वह कोमल वाणीसे बोली और धर्मकी बात बोली जिसमें रामजी प्रसन्न होकर वनको चले जायँ।

नृपहि प्रान प्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ ३॥
सुकृत सुजसु परलोकु नसाऊ। तुम्हहिं जान बन कहिहि न काऊ*॥ ४॥

अर्थ—हे रघुवीर! तुम राजाको प्राणप्रिय हो। प्रेम-कादर लोग शील और स्नेह नहीं छोड़ सकते [वा,

* 'काऊ'—(भागवतदास, वन्दन पाठक, राजापुर, रा० प्र०, पं० रामगुलाम द्विवेदी,)। 'राऊ'—(पं० रामकुमारजी)।

राजा शील, स्नेह और डर न छोड़ेंगे—(पु० रा० कु०)। वा, यह भीड़ जो इकट्ठी हुई है, शील, स्नेहका दिखावा करती ही रहेगी। (वि० त्रि०)]॥३॥ पुण्य, सुन्दर यश और परलोक चाहे नष्ट हो जायँ पर वे कभी भी तुम्हें वन जानेको न कहेंगे॥४॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—'प्राणप्रिय' अर्थात् चाहे प्राण चले जायँ पर वनकी आज्ञा न देंगे क्योंकि तुम प्राणोंसे अधिक प्रिय हो। 'रघुवीर' अर्थात् तुम धर्ममें वीर हो, धर्मका सँभाल करो। राजा धर्ममें भीरु (कादर) हैं इससे वे तुम्हारा शील और स्नेह न छोड़ेंगे। [वा, राजा भीरु (प्रेम-कादर) हैं और तुम रघुकुलके सर्वश्रेष्ठ वीर हो। वीर प्रतिज्ञा और धर्मका पालन करते हैं। (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—***भीर***=भीड़। यह भीड़ शील-स्नेहका दिखावा करती ही रहेगी। भाव कि ये सब तमाशायी हैं, तमाशा देखने आये हैं, यथा—'***भइ बड़ि भीर भूप दरबारा।***' इनके कहनेका कोई मूल्य नहीं है। कैकेयी समझाने-बुझानेवालोंपर बहुत अप्रसन्न है, अतः उनकी गिनती भीड़में कर रही है (यह नवीन अर्थ बड़ा सुन्दर है—मा० सं०)।

टिप्पणी—२'***सुकृत सुजसु परलोकु नसाऊ।***.....' इति। (क)—भाव कि तुम्हारे रहनेसे सुकृत नष्ट हो जायँगे और वन जानेसे सब बने रहेंगे। राजा तुम्हें चाहते हैं, सुकृत, सुयश और परलोक नहीं चाहते, यथा—'***अजसु होउ बरु सुजसु नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ॥***'''***लोचन ओट राम जनि होहीं।***' (४५। १-२) (ख) सुकृतसे इस लोकमें सुयश होता है और परलोक बनता है, सुकृतके नाशसे लोक-परलोक दोनोंका नाश होता है।

सू० मिश्र—'***काऊ***'=काहू, कोई भी। अर्थात् कोई आपको वन जानेको न कहेगा फिर राजा कैसे कहेंगे कि जाओ।' ['***काऊ***'=कभी भी, यथा—'***थाती राखि न माँगिहु काऊ।***' (२८। २)]

अस बिचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुखु पावा॥५॥
भूपहि बचन बान सम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे॥६॥

शब्दार्थ—**पयान**=गमन, यात्रा। पयान करना=जाना।

अर्थ—ऐसा विचारकर जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो। श्रीरामचन्द्रजीने माताकी शिक्षा सुनकर सुख पाया॥५॥ परन्तु राजाको उसके वचन बाणके समान लगे (वे सोचते हैं कि) अभागे प्राण अब भी क्यों नहीं निकलते॥६॥

टिप्पणी—१ (क) पुरुषोत्तम रामकुमारजी— '***अस बिचारि सोइ करहु जो भावा***' इति। भाव यह कि राजा तुम्हारे लिये अपने सुकृतादि नष्ट करते हैं; तुम चाहे उनके सुकृतोंको नष्ट होने दो चाहे रखो, दोनों बातें तुम्हारे अधीन हैं। (ख) '***सुनि सुखु पावा***' क्योंकि माताका उपदेश उनकी रुचिके अनुकूल है। पुनः, भाव कि राजा वन जाने नहीं देते थे, हाथ पकड़कर उन्होंने रामजीको बिठा रखा। श्रीरामजी राजाका शील तोड़कर कैसे चल देते? वे बड़े संकोचमें पड़े थे कि इतनेमें माताने मुनिवेषकी सामग्री लाकर आगे रख दी और धर्मोपदेश करके वन जानेको कहा। बस उन्हें राजाके पाससे उठकर जानेका योग लगा; अतएव वे सुखी हुए।

टिप्पणी—२ '***करहिं न प्रान पयान अभागे***' इति। भाव कि ऐसे-ऐसे बाण लगनेपर भी प्राण नहीं निकलते, अतएव अभागे हैं, आगे वियोग-दुःख सहेंगे। ऐसे ही वचन श्रीजानकीजीने रामजीसे कहे थे—'***ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान। तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥***' (६६)

लोग बिकल मुरुछित नरनाहू। काह करिय कछु सूझ न काहू॥७॥
राम तुरत मुनि बेषु बनाई। चले जनक जननी सिरु नाई॥८॥

अर्थ—लोग व्याकुल हैं। राजा मूर्छित हैं। किसीको कुछ सूझता नहीं कि क्या करें॥७॥ श्रीरामचन्द्रजी तुरत मुनियोंका-सा वेष बनाकर पिता-माताको माथा नवाकर चल दिये॥८॥

टिप्पणी—१ (क) पुरुषोत्तम रामकुमारजी—बाण लगनेसे लोग व्याकुल होते हैं। मूर्छा आ जाती है। ऊपर कहा है कि *'भूपहि बचन बान सम लागे'* अतएव राजा मूर्छित हैं। लोगोंका प्रेम श्रीरामजीमें अत्यन्त है, अतएव वे व्याकुल हो गये। जिसका जैसा प्रेम रामजीमें है वैसी ही उसकी व्याकुलता है। (ख) *'काह करिय कछु सूझ न काहू'* इति। सब व्याकुल हैं, मुखसे कहते हैं कि हाय! क्या करें? कुछ सूझता नहीं अर्थात् न राजाको समझा सकें, न रानीको, न रामको; कोई उपाय नहीं चलता।

वि० त्रि०—रामजीने मुनिवेष-धारणमें जल्दी की। वे चाह रहे हैं कि चक्रवर्तीजीकी मूर्छावस्थामें ही मुनि-वेष बनाकर निकल चलें। मुझे मुनि-वेषमें देखकर महाराज प्राण छोड़ देंगे। अतः मुनि-वेष बनाकर मूर्छितावस्थामें ही पिताको प्रणाम किया और माताको सिर नवाकर चल पड़े।

टिप्पणी—२ *'राम तुरत मुनि बेषु बनाई'* इति। *'तुरत'* पदसे माता कैकेयीमें श्रीरामजीकी भक्ति दिखायी; विलम्ब करनेसे अश्रद्धा पायी जाती। पुनः धर्मोपदेश था। धर्मके काममें शीघ्रता चाहिये जिसमें कोई विघ्न न उपस्थित हो जाय; अतएव *'तुरत'* पद दिया।

टिप्पणी—३ *'चले सिरु नाई'*—यह श्रीरामजीका स्वभाव है। वे माता-पिताके भक्त हैं। यथा—*'प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥'* वैसे ही इस समय वनयात्राके समय प्रणाम करके चले, हृदयमें कुछ दुःख न हुआ। पुनः, माता-पिताको प्रणाम करना यह वन-यात्राका मङ्गलाचरण है।

दो०—सजि बन साजु समाजु सब बनिता बंधु समेत।
बंदि बिप्र गुर चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत॥७९॥

शब्दार्थ—**साज-समाज**=सामान, तैयारी, ठाट-बाट, सामग्री। **अचेत**=मूर्छित, व्याकुल, बेहोश, जड़वत्।

अर्थ—वनका सब साज-समाज धारण करके, स्त्री और भाईसहित प्रभु रामचन्द्रजी, ब्राह्मण और गुरु-चरणोंकी वन्दना करके, सबको अचेत करके चले॥७९॥

नोट—ऊपर जो कहा था कि *'तुरत राम मुनि बेषु बनाई'* उससे मुनि-पट-भूषण-भाजनका धारण करना हो चुका। अब *'बन साजु समाजु'* क्या रहा? इसका अर्थ वाल्मीकीय रामायणसे स्पष्ट हो जाता है। खंती, खोंची, कुल्हाड़ी, पेटी, अपने अस्त्र-शस्त्र, कवच-तरकस यही वनका साज-समाज है। यथा—'**ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्। जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने॥ अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ। आदित्यविमलाभौ द्वौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ॥ सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि। सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण॥**' (वाल्मी० २। ३१। २९—३१) अर्थात्—'राजा जनकके महायज्ञमें प्रसन्न होकर वरुणने स्वयं दो दिव्य धनुष जो देखनेसे ही बड़े भयानक लगते थे, दो अभेद्य कवच, दो अक्षय तरकस सूर्यके सदृश विमल और स्वर्ण चढ़े दो खड्ग, जनकजीको दिये थे जो उन्होंने रामको (रामचन्द्रजीको) दे दिये थे, ये गुरुके यहाँ रखे हैं उन सबको शीघ्र लाओ।' लक्ष्मणजी आज्ञानुसार इन्हें राजमन्दिरको जाते हुए रास्तेमें ही ले आये थे। पुनः, सर्ग ३७ में '**खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत।**' (५) अर्थात् एक खन्ती और खाँची ले आओ। पुनः, सर्ग ४० में '**तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च। रथोपस्थे प्रविन्यस्य सचर्म कठिनं च यत्॥**' (१५) अर्थात् दोनों भाइयोंके लिये अस्त्र-शस्त्र, कवच, चमड़ेसे मढ़ी पेटी और कुल्हाड़ी रथमें रख दी गयी।

नोट—२ वाल्मीकीयसे पता चलता है कि वसिष्ठजीके मना करनेपर सीताजीको वस्त्र-भूषण पहने रहने दिया गया। पर रामचरितमानससे ऐसा जान पड़ता है कि तपस्विनीका-सा वेष कुछ-न-कुछ रहा है, यथा—*'तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेमु परितोषु बिसेषी॥'* (२८७।१)। *'तापस बेष जानकी देखी। भे सबु बिकल बिषाद बिसेषी॥'* (२८६।२)

वाल्मीकिजी लिखते हैं कि पातिव्रत्यधर्म जाननेवाली तथा उसका अनुष्ठान करनेवाली जानकीजी न जानती थीं कि मुनि चीर कैसे पहनते हैं। तब श्रीरामजीने पीताम्बरके ऊपर चीर बाँध दिया। सर्ग ३७

श्लोक १०, १४, २०। इससे जान पड़ता है कि पीताम्बरके ऊपरसे वे वल्कल वस्त्र पहना करती थीं। इसीसे तो भरतजीने शृङ्गवेरपुरमें *'कनक बिंदु दुइ चारिक देखे।'* (१९८। ३)

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'बंदि बिप्र गुर चरन प्रभु'* इति। गुरु वसिष्ठजी ब्राह्मणोंसहित वहाँ थे। (वाल्मीकीयमें ऐसा उल्लेख है) अतएव उन सबोंकी वन्दना करके चलना कहा।

टिप्पणी—२ *'चले'* दो बार कहा गया। एक तो *'चले जनक जननी सिरु नाई।'* और दूसरे यहाँ *'बंदि बिप्र''''चले।'* इससे सूचित होता है कि राजा-रानी कोपभवनमें थे और ये सब उसके बाहर थे। अतएव कोपभवनसे माता-पिताको प्रणाम करके चले, बाहर आये, तब इनको प्रणाम किया और आगे चले।

रा० च० मिश्र—अवधवासियोंके साथ कवि भी अचेत हो गये; इसीसे कहते हैं कि 'प्रभु' अर्थात् स्वामी हैं, क्या किया जाय, कुछ वश है?—*'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त कहा बसाइ।'* कवि ऐसे अचेत हुए कि 'चले' में एक मात्रा अधिक हो गयी मानो इससे जनाया कि जैसे चौथे चरणमें मात्रा बढ़ी वैसे ही अवधवासियोंके दुःखकी मात्रा बढ़ी।

निकसि बसिष्ठ द्वार भए ठाढ़े। देखे लोग बिरह दव दाढ़े॥ १॥
कहि प्रिय बचन सकल समुझाए। बिप्रबृंद रघुबीर बोलाए॥ २॥
गुर सन कहि बरषासन दीन्हे। आदर दान बिनय बस कीन्हे॥ ३॥

शब्दार्थ—दाढ़े=(संदग्ध) जले हुए।

अर्थ—(राजमन्दिरसे) निकलकर वसिष्ठजीके दरवाजेपर (आकर) खड़े हुए। देखा कि लोग विरहरूपी दव-(अग्नि-) से जल रहे हैं॥ १॥ प्रिय वचन कहकर सबको समझाया। फिर रघुवीर रामचन्द्रजीने ब्राह्मणमण्डलीको बुलाया॥ २॥ गुरुजीसे कहकर उनको 'वर्षाशन' दिया और आदर, दान और विनयसे उन्हें वश किया॥ ३॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'बसिष्ठ द्वार भए ठाढ़े'* इति। जब राजा लोग बाहरकी यात्रा करते हैं तब मङ्गलके लिये देवताके स्थानसे, गुरुके स्थानसे, अपने घरसे, मित्रके घरसे, स्त्रीके घरसे होकर यात्रा करते हैं, ऐसा प्रमाण है, यथा—**'देवगृहाद्वा गुरुसदनाद्वा स्वगृहान्मित्रकलत्रगृहाद्वा इति।'** (मुहूर्तचिन्तामणि यात्राप्र० ९१) पुनः, वसिष्ठजीका घर बस्तीके बाहर है। वह वनके तुल्य है। अतएव महलसे निकलकर वहीं आकर रुके। जितनी देर ठहरना है वहीं ठहरेंगे। वहाँ भी बैठे नहीं, *'ठाढ़े'* अर्थात् खड़े-ही-खड़े जो कुछ कृत्य करना है कर रहे हैं। (पण्डितजी) वसिष्ठके द्वारपर खड़े होनेके अनेक तात्पर्य हैं, पर उसके साथ यह भी है कि गुरुजी यदि रोकना चाहते हों तो रोक लें। ऐसा न हो कि वन चले जानेपर वहाँ गुरुजीका संदेसा जाय कि लौट चलो। गुरुकी आज्ञा माननी ही पड़ेगी, और जाकर बिना अवधि पूरी किये लौटनेमें बड़ी कचायी है। (वि० त्रि०) घरके भीतर नहीं गये। द्वारपर बाहर ही खड़े रहे। पं० छोटेलाल व्यास कहते हैं कि अब गुरुकी आज्ञा लेते हैं अतएव उनके द्वारपर आ खड़े हुए। यहींसे प्रस्थान करेंगे।

टिप्पणी—२ *'देखे लोग बिरह दव दाढ़े'* इति। श्रीरामजी जब चले तब भीतरके लोग अचेत हुए, निकलकर बाहरके लोगोंको देखा कि वे विरह-दवसे जले हैं। दवाग्नि वनमें लगती है, किरातिनी लगाती है, वैसे ही यहाँ अयोध्यारूपी वनमें कैकेयी किरातिनीने विरह-दव लगायी, यथा—*'नगरु सकल बन गहबर भारी। खगमृग बिपुल सकल नरनारी॥ बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्ही॥'* (८४। २-३) वनकी आगसे डाढ़ा होता है, रामजी वन जाते हैं उसीसे विरहाग्नि हुई है।

टिप्पणी—३ *'बिप्र बृंद''''कहि प्रिय बचन'* इति। ये ब्राह्मण वे हैं जो पूजापाठके वरणी थे और वर्षाशन पाया करते थे। *'प्रिय बचन'* जो उनको प्रिय लगे ऐसे वचन। जैसे—पिताकी आज्ञाका पालन करके तुरंत

लौटेंगे; इसमें संदेह न करो। देखो, रघुकुलके सभी राजा सत्यसन्ध हुए, किसीने सत्यका त्याग और असत्यका ग्रहण नहीं किया। अतएव मैं पिताका वचन छोड़कर घर कैसे रहूँ? ऐसा करनेसे राजा असत्यवादी कहलायेंगे और मैं भी धर्मसे च्युत हूँगा। (बाबा हरिदास) विप्रवृन्दको लक्ष्मणजी बुलाने भेजे गये। यथा—'**वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्थ त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्। अपि प्रयास्यामि वनं समस्तानभ्यर्च्य शिष्टानपरान्द्विजातीन्॥**' (२। ३१। ३७) अर्थात् तुम वसिष्ठपुत्र सुयज्ञको ले आओ, वे श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनकी तथा अन्य शिष्ट ब्राह्मणोंकी पूजा करके मैं वनको जाऊँगा। वाल्मी० ३२। ४५ में लिखा है कि ब्राह्मण, सुहृद्, भृत्य और भिक्षुक जो भी उस समय आया उसे श्रीरामजीने उचित सम्मान दानसे संतुष्ट किया। अतः यहाँ केवल 'पूजापाठके लिये वरणी ब्राह्मण' को ही न लेना चाहिये। त्रिजट नामक ब्राह्मण, बालक और वृद्ध ब्राह्मण सभीको दिया गया जो वरणी नहीं थे।

टिप्पणी—४ '*गुर सन कहि बरषासन दीन्हे*' इति। गुरुसे कहनेका भाव यह कि देनेमें विलम्ब होता और इनको तुरंत जाना है; अतएव गुरुसे कह दिया कि इनको इतनी वस्तु दे दी जाय। पुनः, इस समय सब काम करनेवाले गुरु ही हैं, ब्राह्मणोंका सम्मान उनके सुपुर्द किया। वर्षाशन=वर्ष+अशन=वर्ष भरके लिये भोजन। यहाँ वर्षाशनसे तात्पर्य यह कि १४ वर्षके लिये लेखा (हिसाब) लगाकर भोजनके लिये द्रव्य किया—'*आदर दान बिनय बस कीन्हें*'—भाव कि ब्राह्मण आदर, दान और विनयसे वश होते हैं, इनके वश होनेसे त्रिदेव वशमें हो जाते हैं, यथा—'*जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तब तुव बस बिधि बिष्णु महेसा॥*'

वि० त्रि०—एक वर्षसे अधिक अन्न-संग्रहका ब्राह्मणोंके लिये धर्मशास्त्रसे निषेध है इसलिये वर्षाशन दिया। आदर और विनय सात्त्विक दानका अङ्ग है। अतः अन्य भी अनेक दान दिये, और प्रतिगृहीताका आदर विनयसे पूजन किया। संसारमें प्रतिगृहीता दाताका पूजन करता है, पर भारतकी सभ्यता यह है कि दाता ही प्रतिगृहीताका पूजन करे।

नोट—वर्षाशन वह बँधेज, बंधान है जो वर्ष-वर्षपर पूजापाठ आदिके लिये दिया जाता है।

वाल्मी० सर्ग ३२ में उल्लेख है पिताके पास जानेके पूर्व रामजीने निजमहलमें आकर अपना सब धन तपस्वी ब्राह्मणोंको दिया। जो श्रेष्ठ ब्राह्मण गुरु गृहमें वास करते हैं उनको दान दिया। अगस्त्य और कौशिककी रत्नोंसे पूजा की, १००० गौएँ इत्यादि भी दीं। तैत्तिरीयोंके आचार्य वेदज्ञ विद्वान् एवं और भी विप्रवृन्द जो कौसल्याजीको आशीर्वाद दिया करते थे उनको, कठकलापशाखा पढ़नेवाले ब्रह्मचारियों, जो पढ़नेमें ही लगे रहते हैं, इत्यादिको, पूर्णरूपसे संतुष्ट किया। चित्ररथ वृद्ध सारथीको भी धन, रथ आदि दिये····तदनन्तर अपने प्रत्येक भृत्यको जीवन-निर्वाह योग्य पूरा धन दिया, इत्यादि-इत्यादि। (सर्ग ३२) स्मरण रहे कि जो कुछ दिया वह सब अपने धनसे दिया। यह स्वयं उन्होंने कहा है—'**अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्। ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप॥**' (वाल्मी० २। ३१। ३५) '**धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात्। भवत्सु सम्यक् प्रतिपादनेन मयार्जितं चैव यशस्करं भवेत्॥**' (२। ३२। ४२)

हाथ जोड़कर अभ्युत्थान दिया, मीठे प्रिय वचनसे कहा कि आप इसे स्वीकार करें; मणियों-रत्नोंसे पूजा की। कहा कि और जो इच्छा हो ले लो धर्म बलसे अर्जित मेरा सब धन ब्राह्मणोंका ही है···इत्यादि '*आदर विनय*' है। रा० प्र० का मत है कि वर्षाशन ब्राह्मणोंको दिया, क्षत्रियवैश्यादिको आदर रूप दान और विनयसे वश किया। पर यहाँ 'विप्रवृन्द' स्पष्ट लिखा है।

वाल्मीकीय आदिमें अपने महलमें जाकर दान करके तब कैकेयीके पास गये हैं। मानसमें यह बात नहीं है। यहाँ तो कैकेयीकी आज्ञा सुनकर फिर वे अपने महलमें भी नहीं गये, माता कौसल्यासे आज्ञा लेकर वे कैकेयीके पास आये और तुरत मुनि-वेष बनाकर चल दिये। इसीसे अपने महलमें फिर भी न गये। गुरुजीद्वारा सब व्यवस्था कर दी।

जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे॥ ४॥
दासी दास बोलाइ बहोरी। गुरहि सौंपि बोले कर जोरी॥ ५॥
सब कै सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाईं॥ ६॥